कर्मयोग

Jokhiram Baijnath.
173, Harison Road;
Calcutta.

लेखक
अश्विनीकुमार दत्त

: :

अनुवादक
छविनाथ पाण्डेय

तीसरी बार १००० }

मूल्य
छः आना

{ दिसम्बर, १९३७

प्रकाशक :—

मार्तण्ड उपाध्याय

मंत्री, सस्ता साहित्य, दिल्ली ।

—संस्करण—

अप्रैल १९२६, २०००

जुलाई १९२८, १५००

दिसंबर १९३७, १०००

मुद्रक :—

भारती प्रिंटिंग प्रेस,

लाहौर ।

प्रस्तावना

बाबू अश्विनीकुमार दत्त का नाम भारतवर्ष मे सर्वत्र प्रसिद्ध है। वंग-भग के भारतव्यापी आन्दोलन का केन्द्र स्वभावतः वंग-देश ही था। पर इस वंग-देश मे भी आन्दोलन का मुख्य केन्द्र पूर्व-बंगाल का बारीसाल नगर था, जिसके नेता इस ग्रन्थ के लेखक बाबू अश्विनीकुमार दत्त थे। बाबू अश्विनीकुमार दत्त के ही कर्मयोग का यह फल है कि वंग-देश के सभी आन्दोलनो मे बारीसाल सदा ही सबके आगे रहता है। जिस प्रकार पंजाब की सहायता मे बारीसाल ने भी बंगाल की लाज रक्खी उसी प्रकार गया कांग्रेस के कार्यक्रम की सिद्धि मे भी बारीसाल ने बगाल की तैयारी का प्रमाण उपस्थित किया था। इसका कारण यही है कि बारीसाल का सार्वजनिक जीवन बाबू अश्विनीकुमार दत्त जैसे कर्मयोगी के कर्मयोग की भित्ति पर स्थिर है। यह तो सब को विदित ही है कि बाबू अश्विनीकुमार ने जो देश-सेवा की उसके लिए उन्हे अन्य आठ साथियो के साथ देश-निर्वासन का उपहार मिला था। ये बाते उनके सार्वजनिक जीवन की ही प्रभा है। उनका व्यक्तिगत जीवन कितना पवित्र है, यह तो वे ही लोग

पूर्णतः बतला सकते हैं जिन्हे उनके साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। हमे यह सौभाग्य प्राप्त नही हुआ। पर उनके "भक्तियोग" ग्रन्थ की हमने बड़ी प्रशंसा सुनी है और उनका यह "कर्मयोग" तो हमारे सामने है जो पुरुष ऐसा मनोहर और दिव्य-ग्रन्थ लिख सकता है, वह पूजनीय है इसमे सन्देह नहीं।

ऐसे सर्वमान्य पुरुष के ऐसे उत्तम ग्रन्थ के सम्बन्ध मे यही कहना पर्याप्त है कि इस ग्रन्थ द्वारा एक कर्मयोगी ने संसार को एक बहुत उपकारी वस्तु प्रदान की है। जो लोग इसे पढ़ेंगे, उनका अवश्य उपकार होगा। कर्मयोग वेदान्त का विषय है। इस विषय का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता है। भगवद्गीता मे कर्मयोग का जो विवेचन है, वह सिद्धान्त-प्रतिपादक श्लोको के रूप मे है। वे श्लोक कण्ठ करने और सदा मनन करने योग्य हैं। उन श्लोको मे अद्भुत् मन्त्र-शक्ति है। पर गीता के कर्मयोग को समझ कर समझाना बड़ा ही कठिन काम है। इसके लिए गीतारहस्यकार लोकमान्य को लगभग १००० पृष्ठ का बृहत् ग्रन्थ लिखना पड़ा है और इसके पूर्व कितने ही आचार्यों और असख्य टीकाकारो ने अनेक प्रकार की रचनाये की है। पर इन सब ग्रन्थो को पढ़ने और मनन करने का अवसर किसको है? इतना अधिकार और पाण्डित्य भी सब को नहीं है। इसलिए भगवान् ने गीता मे अथवा वशिष्ठजी ने योगवाशिष्ठ मे जिस कर्मयोग का उपदेश दिया है उसे हम-आप साधारण बुद्धि के लोग जानना चाहे तो कैसे जान सकते है? बाबू अश्विनी-

कुमार दत्त ने कर्मयोग पर जो यह ग्रन्थ लिखा है वह हमारे जैसे प्राकृत जनो के लिए ही लिखा है और दृष्टान्त आदि दे कर ऐसे अच्छे ढंग से उसे हमारे सामने उपस्थित किया है कि मनोरञ्जन के साथ ही साथ कर्मयोग क्या है, यह समझ मे आ जाता है। यह ग्रन्थ पढ़ कर पाठक का "कर्मयोग" के संसार मे प्रवेश हो जाता है और उसको पारमार्थिक सुख का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है।

ऐसे उत्तम ग्रन्थ को हिन्दी जनता के सामने सुरस और सुबोध भाषा मे उपस्थित करने के लिए पण्डित छबिनाथ पाण्डेय सचमुच हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

लक्ष्मण नारायण गर्दे

विषय-सूची

कर्मयोग

. १ .

आदर्श कर्म-भूमि

यह संसार कर्म-क्षेत्र है। भृगु मुनि ने भारद्वाज ऋषि से इस पृथ्वी की ओर लक्ष्य करके कहा था, "कर्मभूमिरियम्"—अर्थात्, यह कर्मक्षेत्र है। विश्व कर्ममय है। कर्म ही इस विश्व-रचना का आधार है। स्पर्श, शब्द और ज्ञानहीन महद्‌विस्तीर्ण अन्धकारमय और सुनियन्त्रित विश्व मे यह कर्म की ही माया फैल रही है। यह अखिल सृष्टि कर्म के ही सहारे खडी है। और तो और, स्वयं भगवान कर्मशील है। सृजन, पालन और संहार उनका दैनिक कर्म है। प्रजापति ब्रह्मा इस ब्रह्माण्डरूपी गृहस्थी के गृह-स्वामी है। इस ब्रह्माण्ड मे स्थावर और जङ्गमरूपी जितनी वस्तुये है, सबपर उनका अनन्य प्रभुत्व है। जिस वस्तु या जीव का जिस स्थान और जिस काम मे आवश्यकता रखते है उसे उसी स्थान मे और उसी काम मे नियुक्त करते है। इस प्रसंग को लेकर भगवान श्रीकृष्ण ने भगवद्‌गीता मे अर्जुन से कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥

अर्थात्, हे अर्जुन ! हमारे लिए 'करणीय' ऐसी कोई वस्तु नहीं है। इन तीनो लोको मे मेरे लिए कोई ऐसी वस्तु नही है जो मुझे अप्राप्य हो या जिसकी प्राप्ति के लिए मुझे प्रयास करना पड़े। तो भी मै सदा काम मे जगा ही रहता हूँ, अर्थात् कुछ-न-कुछ करता रहता हूँ, कभी उदासीन और बेकार नही बैठा रहता।

कर्मणामी भान्ति देवाः परत्र, कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वाः ।
अहोरात्रे विदधत् कर्मणैवातन्द्रितो शश्वदुदेति सूर्यः ॥

और देखिए, स्वर्गलोक मे देवतागण क्यो दैदीप्यमान होते है, वायु क्यो रात-दिन डोला करता है, भगवान मरीचिभास्कर सूर्य कालप्रमाण को दिन-रात रूपी दो भागो मे बॉटकर क्यों सदा उदय हुआ करते हैं ? कारण कि यह सब कर्म की गति है।

इसी तरह कर्म के ही कारण चन्द्र भगवान क्षणभर के लिए भी आराम नही करते और दिन-रात नक्षत्रो को प्रकाशित किया करते है और इसीलिए अग्नि संसार-यात्रा को सफलता पूर्वक चलाने के लिए दिन-रात भभकती रहती है।

भगवती वसुन्धरा कर्तव्य-पालन करने के लिए ही विश्व के इस महत् बोझ को उठाये हुए है। नदियां प्रत्येक जीव की पिपासा-जनित उष्णता को शान्त करने के लिए अनवरत रूप से बहा करती है।

इस प्रकार गवेषणापूर्ण विचार करने से प्रतीत होगा कि इस विश्व मे जितनी वस्तुयें हैं, सभी कर्त्तव्य-कर्म के आधीन हैं और उसको पूरा करने के लिए अनवरत रूप से चलायमान रहती है। कर्मनिष्ठता को देखकर महाकवि कार्लाइल ने कहा था—"What is this Universe but an infinte Conjugation of the verb to do" अर्थात्, यह संसार क्या है ? केवल 'कृ' धातु का अनन्त रूप, अर्थात् यह विश्व केवल कर्मक्षेत्र है। यहा जिधर देखिए उधर से कुछ-न-कुछ करते रहने की ही आवाज आती रहती है।

कर्मयोग के अतिरिक्त यहा कोई अन्य काम नहीं। जो जीव इसमे विरत रहना चाहते है, उनके लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। गीता मे भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है:—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः।

कर्मयोग मे निष्ठ न रह कर अर्थात् कर्म न करके कोई क्षण-भर के लिए भी नहीं रह सकता। प्रत्येक मनुष्य का प्रकृति-जनित स्वभाव है कि वह कुछ-न-कुछ कर्म अवश्य ही करता रहेगा। और तो और, बेकार बैठे रहने से तो जीवन-यापन भी कठिन हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह कि प्रति दिन शरीर के पालन-पोषण के लिए तुम्हे मुट्ठीभर अन्न संग्रहीत करने के लिए भी कर्म करने की आवश्यकता पड़ती है। यदि इस जीवन का कोई और प्रयोजन न भी मानें, तो केवल जीवित रहने के लिए ही कर्म करना आवश्यक है।

इस प्रकार अनुसन्धान करने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि सभी जीव कर्म क्षेत्र के ही प्राणी है, कोई अपने शरीर के भरण-पोषण के लिए कर्म करता है तो कोई संसार के कल्याण के लिए। सोने से लेकर स्नान, भोजनादि जितने करणीय कर्म है वे सब एक प्रकार के कर्म ही है।

इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि अपने लिए केवल-मात्र हमीं काम करते हैं। सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण भी किसी-न-किसी रूप से हमारी सेवा करने के निमित्त ही कर्म करते है। अनेक कोटि जीव हमारे आराम के लिए निरन्तर काम हैं। जिस वस्तु से हम अपना मकान बनाते है, जिसमे अपने कुटुम्ब को लेकर हम आनन्द से समय काटते हैं, वर्षा, धूप तथा जाड़े से अपने शरीर की रक्षा करते है, जिसमें हमने अपने आराम के सभी साधनो को संग्रहीत करके सुरक्षित रक्खा है, उसका अस्तित्व किस प्रकार हुआ ? जरा सुदूर दृष्टिपात कीजिए और सोचिए तो कि उसका निर्माण करने मे कितने व्यक्तियो को मानसिक और शारीरिक परिश्रम करना पडा होगा। जिस अन्न के द्वारा अपने पेट को धधकती ज्वाला को हम शान्त करते है, जिन वस्त्रों के द्वारा हम अपनी लज्जा का निवारण करते हैं, उसे पैदा करने मे कितने लोगों को वर्षा, शीत और आतप का सामना करना पड़ा होगा ? एक समय वह था जब मै अबोध बालक था, एक तुच्छ मच्छर को भी अपने वक्षःस्थल से उड़ा सकने की क्षमता मुझ मे नहीं थी। उस अवस्था से पालित-पोषित और परिवर्धित कर जिसने मुझे इस अवस्था मे पहुँचाया, उसका स्मरण करते ही हृदय कृतज्ञता से भर जाता है। इस

प्रकार पर्यवेक्षण करने पर हम देखते है कि अपनी शारीरिक और मानसिक क्षमता के लिए हम हजारो और लाखो व्यक्तियो के ऋणी है, हजारो और लाखो के कठिन परिश्रम का ही यह फल है कि आज हममे इस प्रकार की योग्यता और निष्पत्ति का जन्म हुआ है। इतना ही नही, हमारे शरीर मे जिस जीवन-तत्त्व की प्रतिष्ठा हुई है, उसकी रक्षा भी जिस भावी सन्तति द्वारा होगी, उसके प्रति भी हम ऋणी है। यहातक तो हमने केवल मनुष्य के ऋण का वर्णन किया है पर हम लोग मनुष्य के ही ऋणी नही है। जिन उपकरणो और साधनो द्वारा हमारा जीवन-यापन होता है, हमारी आवश्यकताओ की पूर्ति होती है, उन साधनो को उत्पन्न करने मे कितने पशु अपने रक्त को पानी बनाकर काम करते है, क्या हमने क्षणभर के लिए भी इस बात का अनुमान किया है? उद्भिज्ज जगत् हमारे आराम-सुख और रक्षा के लिए कितने प्रकार के साधनो को लेकर उपस्थित हुआ, क्या हम लोग इसका अनुभव करते है?

इस प्रकार जिस जीव-समाज मे हमारे पालन, पोषण और परिवर्धन के लिए इतने साधन उपस्थित किये गये है। जिनकी सहायता से हम इतने आनन्दो का उपभोग करते है, यदि हम उनकी रक्षा और उन्नति के लिए सचेष्ट होकर प्रवृत्त नहीं होते तो फिर हमारे सामन कृतघ्न कौन होगा?

बिना कर्म किये आत्मोन्नति भी संभव नहीं है। यदि हम परमस्वार्थपरता से काम ले और केवल अपना ही कल्याण साधन करने की चिन्ता करे, तो यह भी बिना कर्म के संभव नही। इस संसार की कर्मक्षेत्र-रूपी चक्की मे बिना हाथ लगाये और

उसको चलाए कोई भी पुरुष परम-श्रेष्ठ ज्ञान की उपलब्धि नहीं कर सकता। भगवान श्रीकृष्ण ने अपके मुख से से ही गीता मे कहा है:-

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समाधिगच्छति ।

अर्थात्, बिना कर्म किये कोई ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता और कर्म से उदासीन होकर संन्यास ग्रहण कर लेने से भी मुक्ति नही मिल सकती ।

महर्षि बाल्मीकि ने भगवान रामचन्द्र को उपदेश दिया था:-

राम राम महाबाहो महापुरुष चिन्मय
नाथ विश्रान्तिकालो हि लोकानन्दकरोभव ।
यावल्लोकपरामर्शो निरूढो नास्ति योगिनः
तावद्रूढसमाधित्व न भवत्वेष निर्मलम् ।
तस्माद्राज्यादि विषयान् पर्यालोक्य विनश्वरान्
देवकार्यादिभारां श्च भज पुत्र सुखी भव ।

हे महाबाहो, चिन्मय पुरुष राम! यह आपके आनन्द और आराम का समय नही है। इस समय आपको उचित है कि आप अपनी चेष्टाओ से संसार को सुखी करने का यत्न करे। जबतक योगी कर्मक्षेत्र मे रह कर लोक-यात्रा के लिए कर्म नहीं कर लेता तबतक शान्तिपूर्वक वह समाधि मे भी नही लग सकता। इसलिए राज्यादिक विषय-वासनाओ को तृप्त करनेवाले साधनो को नाशवान मानकर, हे पुत्र, उनको तथा देवताओ के कार्य्य-भार को निबाहकर सुखी हो।

इस प्रकार शिवाजी महाराज के गुरु उदासी समर्थदासजी ने भी शिवाजी को यही उपदेश दिया था कि बेटा! कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त हो।

आधीं प्रपञ्च करावा नेटका
मग ध्यावें परमार्थ–विवेका

अर्थात् मनुष्य को पहले संसार के प्रपञ्चों का बोझ सिर पर उठा कर उन्हें सुचारु रूप से ढोना चाहिये और उसका सम्यग् रूप से निर्वहन करके तब परमार्थ की चिन्ता में प्रवृत्त होना चाहिये अर्थात् प्रथम आत्मा, पीछे परमात्मा। आगे चल कर उसी त्यागी ने यह भी बतलाया है कि संसार प्रपञ्चों को किस भाव से निष्पादित करना होगा।

प्रपञ्च करवा नेमका, वाहावा परमार्थ विवेक,
जेणे करितां उभय लोके सन्तुष्ट होती।

एक तरफ तो स्थिरतापूर्वक अर्थात् बिना किसी तरह की, चिन्ता और घबराहट के संसार के प्रपञ्चों को करता जाय और दूसरी ओर परमार्थ का ज्ञान भी प्राप्त करता जाय। इस प्रकार इहलोक और परलोक दोनों बन जायेंगे।

बिना संसार की प्रपञ्च रूपी इस यात्रा में प्रवृत्त हुए कोई मनुष्य मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि भावों को अपने वश में नहीं कर सकता। यदि संसार में किसी के साथ सम्बन्ध नहीं है, तो फिर मैत्री किससे? किसको आनन्द से प्रसन्न देख कर प्रसन्न होंगे, और किसकी बढ़ती देख कर मन में ईर्ष्या, द्वेषादि के भाव जागृत होंगे, और किसकी उपेक्षा करेंगे? इस संसार में रह

कर कर्त्तव्य-कर्म किये बिना न तो मनुष्य को आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने का कोई सहायक मार्ग है, न नित्य तथा अनित्य वस्तुओ के विवेक का ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है, न साम-दामादि छहों प्रकार की सम्पत्तियो की प्राप्ति ही हो सकती है और न मुक्ति को प्राप्त करने का कोई साधन ही है। जबतक अनित्य पदार्थों के साथ सम्पर्क नही होगा, जबतक उनका अनुभव नहीं हो जायगा, तब तक मनुष्य को इस बात का किस प्रकार ज्ञान हो सकता है कि नित्य और अनित्य में क्या भेद है ? किसी वस्तु से तभी वैराग्य हो सकता है, उसकी प्राप्ति की अनिच्छा हृदय मे तभी उत्पन्न हो सकती है, जब पहले हमे यह मालूम हो जाता है कि यह वस्तु अनित्य और नाशवान है तथा इसके संसर्ग से अथवा सेवन से इहलोक तथा परलोक मे अमुक फल की प्राप्ति होगी। जबतक बाह्यइन्द्रियां (कर्मेन्द्रियाँ) और अन्तः इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ) पूर्ण रूप से अनेक तरह की संकटापन्न विपत्तियो मे नही फँस जातीं, तबतक साम-दामादि साधनो की प्राप्ति की चेष्टा नहीं की जा सकती। जबतक मनुष्य कष्ट मे नही पडता, तबतक उसमे सहनशीलता और धैर्य्य नही आ सकता। जिस विषय-वासना के फेर मे हम पड़े है, पहले उसमे दोष देख लेंगे तभी उसके प्रति हमारे हृदय मे आशका उत्पन्न होगी। फिर उसके समाधान के लिए गुरु और वेदान्त वाक्यों की आवश्यकता पड़ेगी। इन उपायों से शंका का निवारण हो जाने से हृदय श्रद्धा से भर जायगा। जब जीव बन्धन बोध करने लगेगा तभी तो उस बन्धन से मुक्त होने की उसमे प्रबल उत्कण्ठा प्रतीत होगी। इस संसार में हम जितनी अधिक जीवन-यात्रा करेंगे

उतना ही अधिक यह पथ सुपरिष्कृत होगा। इस यात्रा मे पग-पग पर भ्रम उत्पन्न होगा, पतन होगा, पर इसी तरह हम सफल भी हो सकेंगे। उसी उत्थान और पतन क द्वारा ही सारे भ्रमो का दूरीकरण होगा, सच्चा मार्ग दृष्टिगोचर होने लगेगा। और हमारा अनुष्ठान सार्थक होगा। इसी प्रकार की भावना से प्रेरित होकर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भगवान को लक्ष्य करके कहा है·—

भगवन्! हमारी चेष्टायें हज़ारों तरह की है, ऐसा यत्न कीजिए जिससे आपकी कृपा हमें हर तरह से प्राप्त होती रहे।

इस संसार से मुक्त होने के लिए तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए कर्मक्षेत्र मे प्रवृत्त होने के साथ ही हम जिस भ्रम मे पड जाते है, वह भ्रम सदिच्छा के प्रताप से दूर हो जाता है, आनन्द और सत्य के रूप मे खुल जाता है, और इसका संचालक विविध मार्गों द्वारा अपनी बंशी की ध्वनि को हमतक पहुँचाया करता है।

इस प्रकार के कर्म द्वारा ही इस विश्व की उन्नति हुई है। और इसी प्रकार का सतत् कर्म करने के लिए ही हमे ईश्वर ने उत्पन्न किया है। जो मनुष्य इस प्रकार के कर्म करने का व्रत ग्रहण कर लेते हैं, वेही वास्तव मे मनुष्य कहलाने के योग्य हैं, और जो जाति इस प्रकार का कर्म करने के लिए सदा यत्नवान रहती है, वही जाति इस संसार मे उन्नति कर सकती है। जो धर्म-सम्प्रदाय सर्व कर्मो से इस कर्म को उत्कृष्ट समझकर इसी को ग्रहण करते और सम्पादन करते हैं, वही सम्प्रदाय इस विश्व मे सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने के योग्य हैं। प्राचीन समय के इति-

हास की प्रत्येक पंक्ति से यही ध्वनि निकलती है। आज संसार मे जिनको ख्याति प्राप्त है, जो महापुरुष पदवी को प्राप्त हुए हैं, उन्होंने इसी प्रकार कर्म किया था।

इस तरह अर्थात् कर्तव्य-कर्म का पालन करने मे जो देश और जाति जितना आगे बढ गई है, अर्थात् कर्म करने मे जितनी ही दक्ष और दत्तचित्त है, वह जाति और वह देश उन्नति के शिखर पर उतना ही ऊपर चढ चुके है। प्राचीन रोम के निवासियों के हृदय मे जबतक यह भाव जाग्रत रहा, तबतक रोम संसार मे श्रेष्ठ-तम माना जाता था। पर जिस दिन से रोमवालो के हृदय मे से यह भाव उठ गया, उसी दिन से रोम इतना नीचे गिर गया कि अब उसकी दशा ऐसी भी नही रही कि वह उन लोगो के साथ भी बराबरी का स्थान प्राप्त कर सके जो किसी समय उसके पैरों पर अपना मस्तक नवाते थे। यही हालत भारत की थी। जबतक इसकी सन्तान कर्मक्षेत्र मे सब से अग्रसर रही तबतक भारतवर्ष संसार का मुकुट उज्ज्वल करता रहा, सारा विश्व इसकी जय जयकार मनाता रहा। पर जिस दिन से इसने कर्मक्षेत्र से मुंह मोड़ा तब से इसकी क्या दशा हो गई, और यह कितना गिर गया, यह कहने भी नहीं बनता।

इस देश मे जिस समय आर्य लोगो ने कर्म द्वारा गौरव के उच्चतम शिखर पर पहुँचकर चारों तरफ दृष्टिपात किया, उन्हें विदित हुआ कि इस भूमि में इतना पर्याप्त अन्न उत्पन्न हो सकता है, कि साधारण जीवन-यात्रा के लिए हमें किसी तरह के भीषण प्रयास की आवश्यकता नहीं है। इस भाव के उदय होते ही कर्मो के प्रति उदासीनता के भाव उनके हृदय मे उठने लगे।

उन लोगो ने देखा कि शरीर के भरण-पोषण की सामग्री तो इस देश मे सहज-साध्य है, इसलिए इसके प्रति वे कुछ उदासीन से हो गये। साथ ही यह भाव भी उनके दृष्टि-पथ से हट गया कि नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति का जो कर्म इस शरीरयात्रा के लिए किया जाता है, उससे इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। परिणाम यह हुआ कि जीविका उपार्जन के लिए कर्मेन्द्रियो का सञ्चालन निरर्थक प्रतीत होने लगा। पर उस समय उन लोगो की बुद्धि मे यह बात न समाई कि बाह्येन्द्रियो का संचालन केवल शरीर के भरण-पोषण के ही लिए नहीं बल्कि आन्तरात्मा की उन्नति और उद्बोधन के लिए भी नितान्त आवश्यक है। परिणाम यह हुआ कि गण्यमान्य लोगो ने कर्म की तो अवहेलना की और भक्ति और अध्यात्म को ही प्रधान स्थान दिया और उसी का ज्ञान प्राप्त करना ही जीवन का परम उद्देश बताया। परिणाम यह हुआ कि जो जातियाँ उस समय तक कर्म के बन्धन मे बँधी थीं, उच्छृङ्खल हो गईं। यहीं से भारतवर्ष के पतन का प्रारम्भ होता है। जो लोग संसार के झंझटों से पिण्ड छुड़ा कर जङ्गलो में जाकर तपस्या करने लगे, उन्होंने साधु, महापुरुष और तपस्वी संज्ञा प्राप्त की और जो लोग संसार मे रह कर भी इस बात को भूल गये कि भू-मण्डल के साथ उनका कल्याण किस तरह दृढ़ बन्धन मे बँधा है, वे लोग घोर विषयी और स्वार्थ मे रत हो गये। इन दोनो दलों ने मानव-समाज से भिन्न हो कर उसे छिन्न-भिन्न कर डाला। जिन लोगो ने तपस्या करना स्वीकार किया था वे भी अपनी मुक्ति की कामना मे इतने प्रवृत्त हुए कि फिर परमार्थ की चिन्ता भूल गये। इन्द्रियो के वश मे पड़े जीव के

लिए किसी बात की चिन्ता ही नही रह गई। इस दशा को देख कर भक्त प्रह्लाद ने अति व्यथित होकर भगवान को पुकार कर कहा था:—

'हे भगवन ! तुम्हारे गुणरूपी अमृत के अगाध स्रोत मे, जिस समय मै मग्न हो जाता हूँ, उस समय वैतरणी नदी को न पार कर सकने वाली मेरी चिन्ता मुझ से सैकड़ो कोस दूर भाग जाती है। उस समय यदि मुझे किसी तरह की चिन्ता आ घेरती है तो वह चिन्ता उन मूढ पुरुषो के लिए होती है, जो मायारूपी सुख के फेर मे पड़ कर तेरी भक्ति से विमुख हो कर इन्द्रियो के दास बन जाते है, और दुखो का भार अपने सिर पर लाद लेते हैं। प्राय: देखने मे आता है कि देवता और ऋषिगण एकान्त जंगल मे जा कर बास करते हैं और तपश्चरण करते है; परन्तु उनकी सारी चेष्टाएँ मुक्ति के हेतु होती है। दूसरो का उन्हे ध्यान ही नही रहता। हे भगवन! इसलिए मोह-जाल मे फँसे इन सभो को छोड़ कर अकेला मै मुक्ति की इच्छा नही कर सकता। क्योकि मै देखता हूँ तो मुझे यही प्रतीत होता है कि इस मोह-चक्र मे भ्रमण करते हुए प्राणी के उद्धार का एक-मात्र उपाय आप ही हैं।'

भक्त प्रह्लाद के उपरोक्त भावो को तपस्वी और संसारी दोनो ही भूल गये, दोनो ने ही संसार के कल्याण को लेकर ताक पर रख दिया और अपने स्वार्थ-साधन मे लग गये।

इसका परिणाम जो होना था वही हुआ। भारतवासियो का धीरे-धीरे पतन होने लगा और वे निर्जीव, शक्तिहीन और मलिन चित्त हो गये। जो लोग मानव समाज का त्याग करके साधन मे लग गये, उनके हृदय से कर्मयोगी होने की सारी चेष्टायें

निकल गई, बल का अभाव हो गया और वे भिक्षुक सम्प्रदाय मे परिणित हो गये। जो लोग संसारी बन रहे, उनका हृदय उच्छृंखल हो गया, और वह द्वेष, ईर्ष्या, हिंसा, क्रोध, लोभादि नीच और कुत्सित प्रवृत्तियो के दास बन गये। इस मार्ग का अनुसरण करके जब भारत की आर्य सन्तान इतनी नीचे गिर गई कि उससे अधिक पतन हो ही नही सकता था, जब उन्हे दूसरे के पैरो की धूल चाटनी पडी, तब भगवान ने उन्हे प्रत्यक्ष दिखा दिया कि कर्म-मार्ग से विमुख मनुष्य या जाति की क्या दुर्दशा होती है। जो लोग कर्मयोगी नही होना चाहते, कर्म से विमुख हो जाते है, उन्हे कर्मयोगियो का अनुगत दास हो कर रहना पड़ेगा। उनके ही सहारे चलना, फिरना और उठना पड़ेगा, यही भगवान की इच्छा है। संसार के स्वामी भगवान प्रति दिन इसी सत्यता को प्रमाणित करते रहते है और जब तक भारतवासी इसी तरह पड़े रहेगे और पुन: कर्म करने के लिए सचेष्ट न होगे, तब तक किसी भी श्रेष्ठ और उन्नत जाति के सामने खड़े होने का उन्हे साहस नही हो सकता।

यह बात सब के लिए एक ही तरह से सच है चाहे वह व्यक्ति-विशेष हो, जाति-विशेष हो, या सारा विश्व हो। सर्वार्थ सिद्धि का एकमात्र उपाय यही है कि कर्मक्षेत्र मे प्रवृत्त हो कर प्राकृतिक कर्म की योजना की जाय, और सर्वस्वनाश का एकमात्र कारण कर्म-मार्ग से विमुख होना ही है। प्राकृतिक कर्ममार्ग का अनुसरण करने पर ही हमारे जीवन के अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि होगी, और इस मार्ग से विमुख होने पर हमारा नाश अवश्यम्भावी है।

: २ :

मोक्षसेतु

इस जीवन का एकमात्र उद्देश्य है विश्वव्यापी साक्षात् सच्चिदानन्द प्रभु की उपलब्धि, उनका अवलम्बन और उनको प्रतिष्ठा। यही मुक्तिमार्ग का पुल है। इस संसार मे निवास करने वाले जीवका यही आलोच्य और करणीय विषय है; क्योंकि निर्गुण ब्रह्म क्या है, इसको कौन जानता है? महा-कवि टेनिसन ने इसी सच्चिदानन्द की प्रतिष्ठा को That far off Divine event 'वही सुदूरस्थ देवानुष्ठान" कह कर संबोधित किया था।"

भगवान सत्, चित् और आनन्द तीनो है। अपनी सत् शक्ति का प्रयोग करके वे इस संसार की तथा इसमे निवास करने वाले जीवो की रचना करते हैं, और उनकी वह सत् शक्ति इस संसार मे चारों ओर व्याप्त है। अपनी चित् शक्ति द्वारा वे इस संसार को प्रकाशित करते है। परमेश्वर की सन्धिनी शक्ति हमारे कार्यों का सञ्चालन व सम्पादन करती है, संवित् शक्ति हम हम लोग मे ज्ञान का प्रसार करती है और आह्लादिनी शक्ति हमें लोगों के चित्त का मनोरञ्जन करती है। वेदान्तियों के भिन्न-भिन्न मत के अनुसार प्रत्येक मनुष्य स्वयं सिच्चदानन्द का स्वरूप है, सच्चिदानन्द का अंश या कण है अथवा सच्चिदानन्द की छाया है। जो कुछ हो, हम लोगों के जीवन को आधार बना

कर सच्चिदानन्द परमेश्वर अनवरत रूप से अपनी असीम लीला किया करते है, इसमे किसी तरह का सन्देह नही। चाहे किसी का व्यक्तिगत जीवन हो, मानव समाज हो, अथवा भूत समाज हो, सब ही उस सच्चिदानन्द लीलामयी की विहार-भूमि है। इसका पता तो साधारण चिन्तन से भी लग जाता है। व्यक्तिगत जीवन जितना प्रकाशमय होगा उतना ही सन्धिनी, संवित तथा आह्लादिनी शक्ति की क्रिया वृद्धि को प्राप्त होती रहेगी। मनुष्य वृद्धजनो के सहवास से तथा शिक्षा-जनित उन्नति के प्रभाव से कितनी ही बातो का ज्ञान प्राप्त करता है, कितनी ही क्रियायें करता है, कितनी ही क्रियाओ का उपभोग करता है और अखण्ड मण्डलाकार समस्त मानव-समाज के भीतर सच्चिदानन्द प्रभु की यह अनन्त शक्ति धीरे-धीरे प्रस्फुटित हो कर व्याप्त होती है, इसमे कोई किसी तरह की आशंका नही कर सकता और न इसे अस्वीकार ही कर सकता है। प्राचीन इतिहास की आलोचना करने पर हमे यही विदित होता है कि इसकी पूर्णता की प्राप्ति के लिए हम सदा आगे बढते रहते है। भिन्न-भिन्न देशो मे और विविध अवस्थाओ मे उन्नति तथा अवनति के प्रत्येक तरङ्ग मे ऊंचे उठते तथा नीचे की ओर गिरते प्राचीन ज्ञान, प्रेम तथा क्रियातत्व को हृदयंगम करने के उद्योग मे तथा जगत्मे सर्वतो-रूप से व्याप्त उस परमानन्द परम पुरुप के विस्तार का साधन ठीक करने के उद्योग मे ही हम लोग अर्वाचीन ज्ञान, प्रेम व क्रियाशक्ति के सहारे सच्चिदानन्द की प्रतिष्ठा करते है और अनवरत रूप से चल रहे है। हमारी इसी गति का प्रमाण शिकागो का धर्म-सम्मेलन है, हेग की सुविख्यात अन्तर्जातीय कलह को रोकने

की चेष्टा जनक सन्धि-परिषद् तथा अमरीका के राष्ट्रपति विलसन का राष्ट्र-संघ का स्वप्न है। प्राचीन काल में जो लोग ईर्ष्या कर के एक दूसरे को सताते रहे, वे ही शिकागो में धर्म-बन्धन में एकीभूत हो कर एक आसन पर परस्पर प्रेम के साथ बैठे थे। भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी लोग भी परस्पर किस प्रेम से मिले और एक दूसरे की कितनी इज्जत की ? पर इसके सौ वर्ष पहले किसी ने स्वप्न में भी इस बात का अनुमान नहीं किया था कि इस तरह का सम्मेलन कभी भी सम्भव है।

यद्यपि हेग सम्मेलन तथा राष्ट्र-संघ ने अभी तक कोई भी लाभदायक कार्य नहीं किया है, यद्यपि आज भी रणचण्डी अपना विकराल मुंह खोलकर पूर्ववत् खड़ी है और संसार को अपने अति विस्तृत उदर में भारती जा रही है, तथापि यह निश्चय है कि एक दिन ऐसा आवेगा, जब यह धर्माधिकरण संसार भर में शान्ति का सुखदायक जल वर्षावेगा और इस अतिभीषण दावानल का प्रशमन करेगा। इस धर्माधिकरण की स्थापना ही यह देख कर हुई है कि इस अवनीतल के मनुष्यों की गति उसकी अनुगामिनी होने की सदिच्छा रखती है। जिस राष्ट्र-सम्मेलन में इस भाव का उदय हुआ था, उसमें रूस के अधिपति ने कहा था.—'जो राष्ट्र-समूह वाद-विवाद से मुक्ति लाभ करने के निमित्त विश्वव्यापी शान्ति की स्थापना का प्रयास कर रहे हैं, उन लोगों का प्रयास इस शक्तिमत केन्द्र के केन्द्रीभूत होगा।" उनकी यह कल्पना व्यर्थ नहीं थी। यह अवश्य ही घटित होगी। कविगणों ने जिस अन्तर्राष्ट्रीय संघ का स्वप्न देखा है और कल्पना की है वह एक न एक दिन अवश्य चरितार्थ होगा। हेग सम्मेलन उसी का पूर्वाभास था।

राष्ट्रसंघ की स्थापना भी उसी बात की सूचना दे रही है। यद्यपि यह सच है कि गोरे और काले का भेद भाव आज भी भीषण रूप धारण करके अनेक तरह का उत्पात मचा रहा है, अनेक तरह के अनर्थों का कारण हो रहा है और उसी जातिगत विद्वेषाग्नि मे चिरकाल से अर्जित अनेक तरह के गुणो और सुख्यातियो की आहुति करके उसे और भी प्रज्वलित कर रहा है, तथापि इतने उपद्रवो और बाधाओ के रहते भी इस (हेग) सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, यही भविष्य के एकीकरण की सम्भावना का पर्याप्त प्रमाण है। उसका यही सूत्रपात हुआ है।

आज वर्तमान संसार की क्या गति है? तार, बिजली स्टीमर तथा हवाई जहाजो के द्वारा संसार के सभी खण्डो का परस्पर आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, नैतिक, व्यावहारिक तथा व्यावसायिक आदि नाना प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो गया है। केवल भोजन और जीविका के लिए ही नाना प्रकार की जातियो का परस्पर सम्बन्ध हुआ है। आज यदि ब्रिटेन अन्य देशो से भोजन की सामग्री न मंगावे तो उसकी अन्न की समस्या किसी भी प्रकार से हल नहीं हो सकती। फ्रास अमेरीका तथा जर्मनी आदि सभी बडे-बडे राष्ट्र करोडो की खाद्य सामग्री विदेशो से मंगाते है। इसी बात की आलोचना करते हुए महात्मा कार्नेगी ने अपने एक भाषण मे कहा था —

"Nations feed each other A noble ideal presents itself for the future of man—no nation labouring solely for itself; but all for each other, thus becoming a brotherhood under the reign of peace"

अर्थात्—"संसार की भिन्न भिन्न जातियाँ एक-दूसरे के लिए आहार संग्रह करती है। इस सम्बन्ध ने मानव-समाज के भविष्य के लिए एक सुन्दर आदर्श खड़ा कर दिया है अर्थात् भविष्य मे किसी भी जाति को अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओ को आप ही पूरी करने की चेष्टा नही करनी पड़ेगी, बल्कि समग्र जातियाँ एक-दूसरे की आवश्यकता को पूर्ण करने की चेष्टा करेंगी। इस प्रकार शान्ति के अटल साम्राज्य मे वे पूर्ण भ्रातृ-भाव से रह सकेंगी।"

ऊपर कहे हुए अनेक प्रकार के विरोधी भावो को रहते भी विश्वव्यापी ज्ञान, प्रेम तथा सामर्थ्य की जो वृद्धि हुई उसे देखकर यही कहना पड़ता है कि इसे सभी स्वीकार करेंगे।

जिस तरह काल व्यतीत होता जा रहा है, उसी तरह पृथ्वी नई-नई लीलाये देख रही है। यह लीलाये हमारे व्यक्तिगत तथा जातिगत जीवन की सहायक है।

: ३ :

आत्मा की बैठक

इस विश्व मे जितने प्राणी है, सब के अन्तर्गत एक ही शक्ति स्थित है और वही अनन्त कार्य का सञ्चालन कर रही है। इसी भाव से प्रेरित हो कर, हम परस्पर एक दूसरे की क्रिया, ज्ञान तथा आनन्द का अनुभव करते है और उसकी उपलब्धि मे सहायता करते है। इसी तत्व का ज्ञान प्राप्त करके ही किसी महान् वेदान्ती ने कहा था:—

I am owner of the sphere
Of the seven stars and the solar year,
Of the Caesar's hand and Plato's brain,
Of Lord Christ's heart and Shakespear's strain,

अर्थात् मै इस विश्व का अधिपति हूं, सप्तर्षि मण्डल तथा सौर-लोक मेरे अधीन है। जगत- श्रेष्ठ शासक सीजर का हाथ, सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक और तत्ववेत्ता प्लेटो का मस्तिष्क, शान्त मूर्ति महात्मा ईसा का हृदय तथा सर्वश्रेष्ठ कवि शेक्सपियर की उडान सभी मेरी प्रेरणा के फल है।

इस अखिल ब्रह्माण्ड मे छिपा हुआ जो सूक्ष्म तत्व है, और हमारे शरीर के अन्दर जो तत्व है, इन दोनो तत्वो मे यदि समता न होती तो हम इस ब्रह्माण्ड के रहस्य का उद्घाटन करने के लिए अग्रसर होने मे कभी समर्थ न होते। यदि हमारी

अन्तरात्मा मे दक्षता का आभास न होता तो हम सीजर की दक्षता की कल्पना करके इतना उत्फुल्ल कभी न होते । आज हम नेपोलियन आदि वीरो की वीरकहानियां और साहसिक कार्यों को पढ़ते-पढ़ते प्रफुल्ल होते है-रोमॉच पूर्ण हो जाते है, धमनियो का रक्त गरम हो जाता है, इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारे हृदय के भीतर भी नेपोलियन की शक्ति सुप्त रूप से छिपी पडी है । प्लेटो की दार्शनिक परिभाषाओ और गूढ विचारो को देख कर हम मुग्ध हो जाते है, इसलिए कि उसकी सम्वित् शक्ति हमारे हृदय मे भी बैठ कर उसी प्रकार काम कर रही है । ईसा के त्याग और आत्मोत्सर्ग को देख कर हम मुग्ध हो जाते है, क्योकि हमारे हृदय मे भी वही त्याग का भाव वर्तमान है । शेक्सपियर के वाक्याडम्बरो और काव्य-कर्मों को हम पढ कर मुग्ध होते हैं क्योकि रस-मर्मज्ञता हम मे विद्यमान है, हम भी रस के भाव को समझते है । नक्षत्र लोक, सौर-जगत् तथा वर्षा के हम किस तरह अधिकारी है, इसका ज्ञान, यदि थोड़ी देर के लिए भी हम एकान्त मे बैठ कर आत्म-चिन्तन करने लगते है, तो हमे सहज मे ही मिल जाता है । हम नक्षत्र और सौर—केवल दो लोक की चर्चा क्यों करते है ? वास्तविक बात तो यह है कि 'अहम्' देश और काल से परे है । इसी प्रसंग को ले कर इमर्सन ने कहा था :—

"Before the great revealations of the Soul Time, Space and Nature shrink away"

अर्थात् जहाँ आत्मा का साक्षात्कर होते ही देश, काल और

प्रकृति विलीन हो जाते है। यदि यह बात नहीं है, तो उपनिषद् के कर्ता ऋषिगण को प्लेटो, शेक्सपियर, कृष्ण तथा अर्जुन आदि महान आत्माओं से किस प्रकार संपूर्ण संसर्ग हो सकता है? जिस समय हमारा मन इन लोगो के चिन्तन मे मग्न हो जाता है, उस समय देश-काल के सब भेद-भाव भूल जाते है।

व्रजमोहन विद्यालय मे हेरम्बचन्द्र चक्रवर्ती नाम का एक छात्र था। वह बडा सुशील और सच्चरित्र था। मै एक दिन उसकी डायरी उठाकर पढ रहा था। एक प्रसंग पर बारीसाल के नदी-तट की शोभा का वर्णन करते-करते उसने लिखा था—"मै अपने स्थान से उठ और चल कर जलराशि के ऊपर पहुंचा और उसी पर आसन लगा कर बैठ गया। वहाँ बैठा-बैठा मै इस संसार के चित्रकार की चित्रण-चातुरी की अपूर्व लीला का आनन्द लेने लगा। एक के बाद दूसरे, तीसरे भाव उठने लगे। इस प्रकार अनेक तरह के भाव उत्पन्न हुए, पर सब से ऊपर और सर्वप्रधान भाव इस संसार के विस्तार का भाव था। उन विविध भावो पर विचार करते-करते मुझे मालूम होने लगा कि मै इस पृथ्वी को छोड कर आकाश मे उडता चला जा रहा हूँ। आकाश मे जा कर मेरा आकार इतना बढ गया कि मै एक ही बार अनेक नक्षत्रो के पास पहुंच सकता था। जिस समय मै इस विशालता के साथ अपनी तुलना करने बैठा तो मै लाख बार खोज कर भी अपने अस्तित्व का पता नही लगा सका।" इन पंक्तियो के पढने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि इस युवक ने 'अहम्' का आंशिक ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसी तत्व का अनुभव करके महाकवि कीट्स ने कहा था:—"I feel more and more

every day as my imaginaton strengthens that I do not live in this world alone but in a thousand worlds"—"जिस प्रकार मेरी कल्पना-शक्ति प्रति दिन बढ़ती जाती है उसी प्रकार दिन प्रतिदिन मेरे हृदय मे यह भाव और भी विशेष प्रकार से जागृत होता जा रहा है कि मै केवल इसी संसार का जीव नही हूँ, बल्कि और भी अनेक-सहस्त्रो संसारो मे निवास करता हूँ।" एक मसल प्रचलित है कि 'जो ब्रह्माण्ड मे है वही पिण्ड मे है' इस कहावत का तात्पर्य यही है कि 'अहम्' सर्व व्यापक है।

हम सामान्य जीव नही है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हम लोगो के ज्ञान, प्रम और सामर्थ्य का बोध है। जो कुछ हम जानते है, उतने से हम किसी प्रकार भी सन्तुष्ट नही है। हम उससे भी अधिक जानने के लिए सदा उत्कंठित रहते है। नूतन ज्ञान की प्राप्ति के लिए हम जितनी ही अधिक चिन्ता करते है उतनी ही अधिक हमारी चिन्ता और बढती जाती है। एक बात को हम सोचने लगते है तो अनेक भाव हृदय मे जागृत हो उठते है। एक बात कहने लगते है तो अनेक ऐसे भाव उदित हो जाते है जिनकी कभी हमने कल्पना तक नही की थी। इसी रहस्य का उद्घाटन करके राबर्ट ब्राउनिंग ने लिखा था:—

Truth is within ourselves, it takes no rise
From outward things, whatever you may believe
There is an inmost centre in us all,
When Truth abides in fulness; and around
Wall upon wall, the gross flesh hems it in,

This pefect, cleai conception-which is Truth,
A baffling and perverting cainal mesh
Blinds it and makes all erior and 'to know'
Rather consists in opening out a way
Whence the imprisoned splendoui may escape,
Than in effecting entry foi a light
Supposed to be Without Watch nairowly
The demonstration of a truth, its biith,
And you trace back the effluence to its spiing
And source within us, wheie bioods radiance vast
To be elicited iay by ray as chance shall favour

अर्थात् सत्य हमारे अन्तस्तल मे वर्तमान है। चाहे हमारी कुछ भी धारणा क्यो न हो, पर इसकी उत्पत्ति किसी बाहरी पदार्थ से नहीं होती। हम लोगो के अन्तस्तल मे सत्य की अनवरत धारा बहती रहती है। इस रक्त-मज्जामय शरीर ने एक सुदृढ दुर्ग की भाँति उसे चारो ओर से घेर रक्खा है। इस प्रकार शरीर रूपी यह मायाजाल अपने अन्तर्गत सत्य ज्ञान को बाँध कर, अनेक प्रकार का भ्रमोत्पादन करता है। सत्-ज्ञान-प्राप्ति के माने यह नहीं हैं कि अन्तरात्मा मे स्थित जो घोर अन्धकार है, उसका बाहर के किसी तरह के प्रकाश से नाश करना। अन्तरात्मा मे तो अन्धकार है ही नहीं। वह तो सदा से प्रकाशित है। ज्ञानरूपी ज्योति का उसमे निवास है। सत्-ज्ञानोपार्जन का अभिप्राय यह है कि जो स्थूल दीवाल अन्तर्ज्ञान को बाँध कर उसे बाहर नहीं आने देती, उसीको तोड कर सत्ज्ञान के दिव्य-

प्रकाश को भीतर से बाहर लाना और बाह्येन्द्रियों को आलोकित करना। जहाँ-जहाँ सत्य प्रगट हो, उसकी उत्पत्ति जब-जब हो उन अवसरों की एकान्त पर्यालोचना से विदित हो जायगा कि हमारे अन्तस्तल मे प्रभूत ज्योति का खजाना है और उसी खजाने से इसकी प्रत्येक किरण धीरे-धीरे इस तरफ बढती है।"

पञ्चकोष ने आत्मा को घेर कर बाँध रक्खा है और उसी से अनेक अनर्थों की उत्पत्ति है। उस पञ्चकोष का नाश कर देने पर ही आत्मा को पूर्ण-प्रकाश प्राप्त होता है। महाकवि इमर्सन ने लिखा है :

"With each divine impulse the mind rends the thin rinds of the visible and finite and comes out into infinity" अर्थात् दिव्य भाव के प्रत्येक उच्छ्वास मे मन दृष्टि के विषयीभूत ससीम का नाश करता है और असीम बनता जाता है।

ज्ञान के स्रोत की भाँति हमारे अन्तस्तल मे प्रेम का भी एक असीम स्रोत बहता रहता है। जितना ही हम प्रेम करते हैं, प्रेम करने की चाह उतनी ही बढ़ती जाती है। आज तक कोई न कह सका कि हम प्रेम की अन्तिम सीमा तक पहुच सके। हम लोगो के अन्तस्तल मे प्रेम का जो अगाध सागर बह रहा है, बहुत खोजने पर भी हमे उसका किनारा नही मिलता। प्रेमी जितना ही खिचता जाता है, प्रेम की उतनी ही वृद्धि होती है। प्रेम की अनन्तता का यही लक्षण है। इसी प्रसङ्ग को ले कर महाकवि शेली ने लिखा है :—

"If you divide suffering or dross, you may
Diminsh till it is consumed away,
if you divide pleasure and love and thought
Each part exceeds the whole"

"यदि तुम किसी प्रकार शोक और दुःख को खण्डशः कर सको तो कम होते-होते उसका किसी न किसी दिन नाश अवश्य हो जायगा, पर आनन्द, और प्रेम चिन्तन का यदि विश्लेषण करो तो उलटा ही परिणाम होगा, अर्थात प्रत्येक भाग सम्पूर्ण से भी बढ़ जायगा।"

पहले पहल साधारण दृष्टि से प्रेम करना आरम्भ करो। तुम देखोगे कि प्रेम की मात्रा बढ़ती ही जा रही है, और प्रेमी तुम्हारे दृष्टि-पथ पर अधिकाधिक आरूढ़ होता चला जा रहा है। इस प्रकार तुम्हारे मूल प्रेम की वृद्धि होगी। अब प्रेमी तुमसे जितना ही दूर रहना चाहेगा अनुराग उसके प्रति उतना ही बढ़ता जायगा। यही बात ज्ञानके सम्बन्ध मे भी है। इसके द्वारा ही ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन के जीवन वेदके विचित्रगणित की सत्यता प्रगट होती है। उनका कथन था –"तीन मे से सात गया बाकी बचा दस।"

सामर्थ्य-सम्बन्ध के विषय मे भी यही बात सत्य देखने मे आती है। जितना भी आचरण किया जाता है उतनी ही अधिक उत्कण्ठा उत्पन्न होती है कि और भी नई क्रिया करें। पृथ्वी इतनी वृद्धा हो गई है तो भी प्रत्येक क्रिया के आरम्भ में वह सदा नई नवेली प्रतीत होती है। इसे देख कर कवि टेनिसन ने कहा था:—

"We are ancients of the earth
And in the morning of the times"

अर्थात् हम लोग इस पृथ्वी से कही अधिक प्राचीन है पर युग युगान्तररूपी जो समय है उसका अभी प्रभात हुआ है।

वैज्ञानिक खोज द्वारा नई-नई वस्तुओ का जितना ही अधिक पता लगता जाता है, मन मे उतना ही अधिक दृढ़ विश्वास जमता जा रहा है कि और भी अनेक नई वस्तुओ का भण्डार भूगर्भ मे संचित है और जितना खोज किया जायगा उतना ही पता लगता जायगा। सातो, डूमो, मारकनी, एडिसन, बरबंक, सा जगदीश-चन्द्र बसु, प्रफुल्लचन्द्र राय आदि महापुरुष क्रिया सागर मे जितनी अधिक डुबकी लगा सके है जितनी गहराई मे प्रविष्ठ हो सके है, उतना ही बहुमूल्य रत्न निकाल कर प्रगट कर सके है। इस तरह से प्राप्त अनेको रत्न देखे फिर भी सन्तोष नही होता और मन मे वही भाव उठता है कि अभी तक तो आरम्भ भी नही हो सका है। इधर दृष्टि की भी यही हालत है। जिस किसी पदार्थ पर दृष्टिपात करते हैं, मन उसीमे मुग्ध हो जाता है। आँखे उसीमे गड जाती है, तृप्ति नहीं होती। आकाश मे स्थित तारकगण को देख कर तथा इस अवनीतल की शोभा की नाना-विध वस्तुओं की रमणीयता देख कर मन मे यही भाव उठता है कि यदि हमारे हजार और लाख आँखें होती तभी शायद हम इस अवर्णनीय सौन्दर्य को देख कर तृप्त हो सकते। क्षितिज (जहाँ आकाश और पृथ्वी मिलते दिखाई देते हैं) पर आकाश अटल आसन जमा कर डट जाता है और दृष्टिपथ का अवरुन्धन कर

देता है, इस समय मन मे यही इच्छा होती है कि इस व्यविधान को ले कर फेक दे और इसके आगे क्या है उसकोभी इन आँखो से देख ले। जिस समय ज्ञान की चर्चा होने लगती है और मन उसमे तल्लीन हो जाता है, उस समय हृदय मे यही भाव उत्पन्न होते हैं कि ईश्वर ने हमे एक ही मस्तिष्क क्यो दिया ? हमे शत और सहस्र मस्तिष्क क्यो नही दिये ? हम उसी अनन्त महा-पुरुप के सन्तान है, जिसके हजार सिर है, हजार आँखे है और हजार ही पाद है। हम लोगो की मानसिक वृत्ति और शारीरिक वृत्ति इस अवनीतल पर एक प्रकार का बन्धन प्रतीत करती है। इस पृथ्वीतल पर हम लोगो की वृत्तियाँ अवाधित रूप से विस्तार नही पाती। मन मे विचार पैदा होता है कि हम सागर के जीव किसी देहाती कुएँ मे लाकर रख दिये गये है। देश और काल के सम्बन्ध मे हमारा मन दूरातिदूर तक सम्बन्ध रखना चाहता है, उसी मे वह अपनी तुष्टि मानता है। अतीत मे तुम अपने मन को जितनी दूर चाहे ले जावो, हजारो शताब्दियो की बीती घटना पर दृष्टिपात करो, पर तुम देखोगे कि इतने से ही तुम्हे सन्तोप नही होगा, तुम्हारी दृष्टि और भी आगे बढना चाहेगी। यही बात भविष्य के लिए भी सच है। भविष्य के सहस्रो वर्ष की कल्पना कर डालो, पर तुम्हे सन्तोप नही होगा। चाहे किधर ही देखो सन्तोप नही है। इसीलिए दिशा-विदिशाओ मे व्याप्त महासागर का अगाध विस्तार देख कर हमारा प्राण उलट पडता है। इसी अतृप्ति का अनुभव कर महाकवि देशबन्धु चित्तरञ्जन दास ने समुद्र को सम्बोधन करके अपनी सागर कथा मे कहा है —

ए पार ऊ पार करि, परि ना त आर ।
आज मोरे लये जाऊ अपारे तोमार ।
पराण भासिया गेछे कूल नाहि पाई ।
तोमार अकूल विना, कोथा तार ठांई ।

हम न तो इस पार ही रहना चाहते है और न उस पार ही पहुँचना चाहते है। हमारा ध्यान सदा अपार और अकूल पर रहता है। हमारे एक ओर तो भविष्य का अगाध सागर तरङ्गे मार रहा है और दूसरी तरफ अतीत का महान् समुद्र हिलोरें ले रहा है। इसी मे हम सन्तुष्ट है, इससे कम मे हमारी तृप्ति नही। इसी भाव को हृदयङ्गम कर के महाकवि कार्लाइल ने लिखा था:—

"Man is a visible mystery walking between two eternities and two infinitudes" मनुष्य दृश्यमान रहस्यमय पदार्थ है जो दो अनन्त देश और काल के बीच भ्रमण करता है। हम सब देखते तो है पर कोई भी इसके मर्म को नही समझ सका। इसी को दृश्यमान रहस्य कहते हैं। इसीको ले कर भगवान श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता मे कहा है:—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत अव्यक्तनिधनान्येव ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! न तो इसका आदि दृष्टिगोचर होता है और न इसका अन्त। इस जगत के इस अनन्त प्रकार के बीच किसी ने न जाने कौन बाधा उपस्थित कर दी है। जिस समय हम इस बाधा से मुक्ति लाभ कर लेंगे, उसी समय हमे अपने असली रूप का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। यह बाधा उसी समय दूर हो जायगी जिस समय हमारे शरीर मे आत्मबुद्धि अपना प्रति-

प्राप्त कर लेगी । इस प्रसङ्ग को लेकर अष्टावक्र संहिता मे लिखा है:—

यदि देहं पृथक् कृत्वा चिदि विश्राम्य तिष्ठसि ।
अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि ॥

अर्थात् यदि देह को पृथक् कर के 'चित्' मे विश्राम कर रक्खोगे उसी समय सुखी, शान्त तथा बन्धन से मुक्त हो जाओगे ।"

'चित्' का प्राकृतिक धर्म असीमत्व है अर्थात् वह सीमा-रहित है। इसी असीमत्व को देखकर तत्वज्ञानी हेगल ने कहा था:—It is, speaking rightly, the very essence of thought to be infinite. The nominal explantion of calling a thing finite is that it has an end, that it exists up to a certain point only, where it comes into contact with and is limited by its other The finite therefore subsists in reference to its other, which is its negatiou and presents itself as its limit. Now thought is always at its own sphere, its relations are with itself and it is its own object In having a thought for object I am at home with myself. The thinking power, the I' is therefore infinite, because when it thinks it is in relation to an object which is itself. Generally speaking, an object means a something else, a negative confronting me. But in the case where thought thinks itself, it has an object which is at the same time no object, in

other words its objectivity is suppressed and transformed into an idea. Thought, as thought, therefore in its unmixed nature involves no limits, it is finite only when it keeps to limited categorios which it believes to be ultimate."

"सच बात तो यह है कि ज्ञान-शक्ति अर्थात् चित अनन्त है अर्थात् वह सीमा रहित है। यदि किसी पदार्थ के विषय में यह कहा जाय कि वह सीमित है, तो इस के माने हुए यह कि उसका अन्त है—यानी उसकी किसी निर्दिष्ट सीमा तक तो गति है, जहाँ वह एक दम ही वस्तु के संपर्क में आती है, और जहाँ पर दूसरी वस्तु का आरंभ होता है वही पहली का अन्त होता है। इससे यह अभिप्राय निकला कि सीमित वस्तु का किसी अन्य वस्तु से सम्बंध है, जो इस को सीमाबद्ध करती है और इसके अस्तित्व को और आगे नहीं बढ़ने देती। परन्तु विचार शक्ति (चित्) सदा अपने ही लोक में निवास करती है। उस का किसी अन्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं है। और यह स्वयं ही अपना विचार विषय भी है। इस प्रकार जब मुझे किसी विषय पर विचार सूझ जाता है तब मैं अपने में लीन हो जाता हूँ। इसलिए चित् शक्ति अर्थात् 'अहम्' अनन्त और असीम है, क्योंकि जब वह विचार करती है तब उसका विषय कोई पदार्थ होता है, और वह पदार्थ स्वयं उसमें निवास करता है। साधारण चिन्ता के विषय की चर्चा करने से हृदय में किसी भिन्न वस्तु का बोध होता है जो 'अहम्' से भिन्न है। इसलिए जब हम अपने ही विषय में अर्थात् आत्मा के विषय में विचारते हैं तब विचार का विषय कोई पृथक

पदार्थ नही होता। इसलिए चित्त अपने शुद्ध-बुद्ध रूप मे अनन्त है और वह सान्त तभी मालूम होता है जब सान्त पदार्थों के विषय मे वह विचार करता है। चित्त-शक्ति के इस रूप को हम प्रसङ्गानुसार विचार या कल्पना कहते है।

महर्षि याज्ञवल्क ने अपनी धर्मपत्नी ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी को इसी आत्मतत्व का उपदेश दिया था.—

"यत्र हि द्वैतमिति भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतर जिघ्रति, तदितर इतर रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं शृणोति। तदितर इतर मनुते तदितर इतरं स्पृशति तदितर इतर विजानाति यत्र तस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कम् पश्येत्,केन कं जिघ्रेत्तत् केन क रसयेत्तत् केन कं मभिवदेत्तत् केन क शृणुयात्तत केन क मन्वीत तत् केन क स्पृशेत्तत् केन क विजानीयाद् येनेदं सर्व्वं विजानाति तम् केन विजानीयात्?"

"जहाँ पर द्वैत भाव रहता है वहाँ एक दूसरे को देखता है, एक दूसरे को सूंघता है, एक दूसरे का रस लेता है, एक दूसरे से बाते करता है, एक दूसरे को सुनाता है, एक दूसरे का मनन करता है, एक दूसरे का स्पर्श करता है, और एक दूसरे का ज्ञान लाभ करता है। पर जिस स्थल पर सभी आत्मभूत हो गया है; आत्मा के अतिरिक्त कोई वस्तु रह नही गई है, वहाँ पर कौन किसका दर्शन करेगा, कौन किसको सूंघेगा, कौन किसका आस्वादन करेगा, कौन किसके साथ वार्तालाप करेगा, कौन किसकी बात सुनेगा और कौन किसको जानेगा? किसके द्वारा इन सबकी ज्ञान प्राप्ति हो सकती है, उसको हम किस उपाय से जान सकते है।

जिसने निर्जन वन मे एकांत निवास करके कुछ ज्ञान लाभ किया है, वही जान सकता है कि समय पर हम अपने निज शरीर को एवं अपने चारों ओर व्याप्त इस विश्व मण्डल को भूल सकते है। कुछ समय तक स्थिर समाधि लगाने के बाद पहले तो वाह्य संसार का फिर उसके बाद अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग हाथ-पैर आदि–का ज्ञान मनुष्य भूल जाता है। इसके बाद धीरे-धीरे चिन्ता का प्रभाव रुक जाता है—द्वैत का भाव मिट जाता है और आत्मा से परे कोई वस्तु नही रह जाती। इसी अवस्था का स्मरण करके देवर्षि नारद ने व्यासदेव से कहा था:—

नापश्यमुभयं मुने! हे ऋषिदेव! उस समय दोनो मेरे स्मृति पथ मे न आये।" जब समस्त वस्तुओ का ज्ञान मिट जाता है तब एक अनिवर्चनीय भाव का उदय होता है। यह भाव ठीक उसी तरह का होता है जैसा ससीम के त्याग के बाद असीम का भाव उदय होने पर होता है। जिस समय मनुष्य इस तरह के भाव मे आविष्ट होता है उस समय वह यदि विदेह न होकर (अर्थात् शरीर की स्मृति न भूल कर) अपना भाव व्यक्त कर सकता तो आनन्द मे उत्फुल्ल होकर वह भी विवेक चूड़ामणि के शब्दो को सानन्द दोहराता कि:—

> क्व गतं केन वा नीत कुत्र लीनमिदं जगत्
>
> अधुनैव मया दृष्टं नास्ति कि महद्भुतमम्

अरे! वह संसार कहाँ गया, उसे कौन उठा ले गया, वह कहाँ गायब हो गया। अभी मैने इस को यहाँ देखा था पर एक क्षण मे ही वह कहाँ चला गया? बड़े ही आश्चर्य की बात है!

बुद्धिर्विनष्टा गलिता प्रवृत्तिः ब्रह्मात्मनो एकतयाधिगत्या
इदं न जानेऽप्यमिदं न जाने किंवा कियद्वा सुखमस्य पारं ।

ब्रह्म और आत्मा का एकत्व ज्ञान प्राप्त कर के मेरी बुद्धि नष्ट-भ्रष्ट और मेरे चित्त की प्रवृत्तियाँ जीर्ण-शीर्ण हो गई है । न तो मुझे अब इस विश्व का ज्ञान रह ही गया है और न इस के परे क्या है इसका ही पता है । और न तो इसका ही मुझे कोई ज्ञान है कि इसमे क्या दुःख है तथा उसमे क्या सुख है ।

वाचा वक्तुमशक्यमेव मनसा गन्तु न वास्वाद्यते
स्वानन्दामृतपूरपूरितपरब्रह्माम्बुधेर्वैभवम्
अम्भोराशिविशीर्णवार्षिक शिलाभाव भजन्मे मनो
यस्यांशांशलवे विलीनमधुनानन्दात्मना निवृ तम्

अर्थात् जिस प्रकार जल राशि मे वर्षा-कालीन शिला गिर कर उसी जल राशि मे गायब होजाती है, उसी प्रकार मेरा मन भी उसीके अनुरूप सागर के अंशांश कण के बीच मे विलीन हो कर परमानन्द को प्राप्त हो गया है । उस ब्रह्मसागर म विलीन हो जाने से जो आनन्द की अनुभूनि प्राप्त होती है, उसका न तो हम वर्णन ही कर सकते है, न उसके बारे से सोच ही सकते है और न उस आनन्द का आभास ही प्राप्त सकते है ।

आनन्द मे समस्त एकाकार हो गई है । वास्तव मे जिस समय चित्त की तन्त्रियाँ इस प्रकार के भाव की तरंगो मे बोल उठती है और शरीर, मन, बुद्धि तथा चराचर विश्व ये जिस आनन्द तरंग मे संपूर्णत' डूब जाते है,उसकी तुलना इस संसार मे कहीं भी प्राप्त नहीं है । पर जब तक शरीर और मन के भिन्न अस्तित्व का ज्ञान मनुष्य के चित्त मे वर्तमान रहता है, उस

समय तक शरीर के प्रत्येक अंग को कष्ट का अनुभव होता है। वह अनुभव ठीक उसी प्रकार का होता है, जिस प्रकार का दुःख उस पक्षी को होता है जो एक बार मुक्त हो जाने के बाद फिर पकड़ कर उसी पिजड़े मे ठूॅस दिया जाता है। महाकवि वर्डस्वर्थ ने प्रकृति की अनन्त रचना की शोभा देखते-देखते तथा कवि सम्राट टेनिसन ने 'अहम्' का नाम जपते-जपते इसी ज्ञान की उपलब्धि की थी। महाकवि वर्डस्वर्थ ने नदी-तीर की शोभा मे निमग्न हो कर जिस भाव का ज्ञान प्राप्त किया था, उसका वर्णन उन्होने यों किया है :—

That blessed mood
In which the burthen of the mystery,
In which the heavy and the weary weight
Of all this unintelligible world
Is lightened:—that serene and blessed mood,
In which the affections gently lead us on—
Until the breath of this corporeal frame
And even the motion of our human blood
Almost suspened, we are laid asleep
In body and become a living soul.

वह सुखमय भाव—जिसकी अभिव्यक्ति से विश्व के रहस्य के उद्धार करने का भार और इस दुर्बोध्य पृथ्वी के अगोचर सार-तत्त्व के समझने का बोझ हलका हो जाता है, वह मधुर और दिव्य भाव जिसमे हृदय की मधुर स्नेहमयी वृत्तियाँ धीरे धीरे उस अवस्था को पहुॅचती हैं कि हम लोगो के शरीर की गति, यहाँ तक

कि रुधिर का प्रस्रवण भी रुक जाता है, हम लोगो को अपने शरीर की सुध-बुध नही रह जाती और 'आत्मा जागृत हो उठती है।' इसी प्रसंग को लेकर कवि सम्राट् टेनिसन ने कहा था :—

More than once when I
Sat all alone, revolving myself,
The word that is the symbol of myself,
The mortal limit of them. Self was loosed,
And passed into the Nameless, as a cloud
Melts into Heaven I touched my limbs, the limbs
Were strange, not mine and yet no shade of doubt
But utter clearness, and this loss of Self,
The gain of such large life as match'd with ours
were Sun to spark-unshadowable in words,
Themselves but shadows of a shadow-world,

ऐसा अनेक बार हुआ है कि जिस समय मै एकान्त मे बैठा आत्मतत्व की चिन्ता कर रहा था, तो मुझे प्रतीत हुआ कि मेरी आत्मा शारीरिक-बन्धन से छूट गई, जिस प्रकार अनन्त मेघ-राशि महसा आकाश मे विलीन हो जाती है, उसी तरह मेरा आत्मतत्व भी नामातीत मे विलीन हो गया। उस समय जब मैने अपने अंग का स्पर्श किया तो मुझे प्रतीत हुआ कि ये अंग मेरे नही बल्कि अन्य के हैं। पर उसमे सन्देह का लेशमात्र भी नहीं था, क्योंकि वह सम्पूर्ण परिष्कृत दिखाई दे रहा था। मेरा आत्मत्व इतना विस्तृतरूप धारण कर गया था कि इस जीवन के साथ उसकी तुलना करना सूर्य को दीपक दिखाना था। वह भाव समुचितरूप

से शब्दो मे भी नही प्रगट किया जा सकता, क्योंकि शब्द भी तो इस पृथ्वी के छाया मात्र है। इसी विषय को लेकर योग-वशिष्ठ मे महर्षि वशिष्ठ ने कहा है -

> अयमेवाहमित्या स्मन् संकोचे विलयं गते
> समस्तभुवनव्यापी विस्तार उपजायते।

यह शरीर मेरा है, मै इस शरीर का अधिपति हूँ, इस तरह के भाव हृदय से उठ जाने पर समस्त विश्वव्यापी विस्तार की उपलब्धि होती है।

इसी भाव के आवेश मे आकर कवि शशाक मोहन आनन्द से प्रफुल्लित हो कर अलापते थे।

इसीको आत्म-प्रतिष्ठा कहते है और यही परम प्रभु सच्चिदा-नन्द की प्रतिष्ठा का आभास है।

: ४ :

पूर्ण और अपूर्ण मैं ही हूं

आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है, 'अहम' नही है। आत्मा विश्वव्यापी और विराट है, 'अहम्' संकीर्ण और ग्रन्थिबद्ध है। आत्मा रक्त-मास से परे है और विश्व का निर्माण करने वाली जो विधिया है उसमे रमण करती है। 'अहम्' रक्त-मॉस के पिण्ड से बना है और इसी विश्व का जीव है। आत्मा हमारा, तुम्हारा और समग्र संसार का कल्याण एक समझती है, 'अहम्' एक ही कुटुम्ब मे अनेक प्रकार के भेद-भाव का लक्ष्य करता है। परमहंस श्रीरामकृष्ण के शब्दो मे जो आत्मा अपने ही मे पूर्णता और अपूर्णता देखती है, उसीके लिए कहा है :—

एकोऽवर्णो बहुधाशक्तियोगादवर्णाननेकान निहितार्थो दधाति

अर्थात् आत्मा एक है और वर्णहीन है पर आवश्यकता के अनुसार विविध प्रकार की शक्तियो के योग से अनेक वर्ण धारण करती है।

यह ब्रह्माण्ड एक विचित्र क्रीडा-स्थल है। इसका विधाता भी उस लीला का विचित्र पात्र है। वह इस पृथ्वीतल मे, प्राणी मात्र मे, एक शक्ति और एक ही प्रवाह देखता है। विज्ञान द्वारा भी यही सत्य प्रमाणित हुआ है। किसी बड़े भारी विद्वान का मत है कि जिस प्रकार ऊपर की ओर फेंका हुआ ढेला पृथ्वी की तरफ खिच आता है, उसी प्रकार चन्द्रमा भी पृथ्वी की ओर आकृष्ट

होता है। सूर्य की रश्मियोंके विश्लेषण से जिन पदार्थों को प्रकाश मिलता है वे धातु और वाष्प सभी इसी भूतल मे विद्यमान है और सूर्य मे भी वे सब धातुएँ विद्यमान है। ऐसी कौनसी शक्ति है जो अतिदूरवर्ती और स्थिर नक्षत्रो के समूह को शुक्लवर्ण तथा धूम्रवर्ण धूम्रकेतु को भी वही प्रकाशित करती है। हमारे सूर्य जगतके नक्षत्रगण जिन नियमो के वशवर्ती है,उसी प्रकार सूक्ष्म पर्यालोचन से प्रगट होता है कि प्रकाश के खजाने दोनो नक्षत्रगण एक दूसरे को आकृष्ट करते हुए उसी नियम के वशीभूत है। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इस पृथ्वीतल पर हम जिस एकता का अनुभव करते है उसका आभास इस भूतल से भिन्न स्थान पर भी गोचर है। विज्ञान ने अनुसन्धान द्वारा यही बात सिद्ध कर दिखाई है कि कोई भी वस्तु, चाहे वह इन्द्रिययुक्त हो वा इन्द्रियहीन जीव-सहित हो या जीव-रहित, चाहे वह उद्भिज जगत का जीव हो या चेतन-जगत का, ज्ञान-जगत मे उत्पन्न हुआ हो अथवा नीति-जगत् इस अवनीतल पर उत्पन्न हुआ हो अथवा उस विस्मय तथा आनन्द मे अधिष्ठित जीव हो जो ज्योतिष्कमण्डल-वृन्द मे देखने मे आता है, सदा और सर्वदा इस अज्ञात और कल्पनातीत जीवन मे शक्ति की लीला मे संगत, समंजसीभूत और एक है। पश्चिम देश के वैज्ञानिको ने यह खोज निकाला है कि, —गर्मी, प्रकाश, बिजली और आकर्षक धातु ये सभी एक ही शक्ति के विविध रूप है। विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र बोस महाशय ने अनेक वैज्ञानिक क्रियाओ द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया है कि इस पृथ्वीतल के अनेक सजीव और निर्जीव पदार्थ एक ही प्रकार की शक्ति द्वारा सञ्चालित है और

एक ही प्रकार की क्रिया में रत है। अनेक प्रकार के प्रयोगों द्वारा बोस महोदय ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि आघात-प्रतिघात, सुषुप्ति और बेहोशी तथा जरा-मरण के रक्त-मज्जानिर्मित-मानव शरीर पर जो लक्षण देखने में आते हैं वे ही उद्भिज पदार्थों पर देखने में आते हैं।

अनेक प्रकार की क्रियाओं द्वारा प्रकृत-विज्ञान जिन सिद्धान्तों की सत्यता प्रमाणित करता आ रहा है, कवि सम्राट् टेनिसन ने उन्हीं सिद्धान्तों का ज्ञान किसी टूटे-फूटे किले में विकसित एक पुष्प के द्वारा प्राप्त करके कहा था :—

"सुमन यदि मैं तेरी प्रतिभा का ज्ञान प्राप्त कर सकता तो मुझे यह सहज में ही उद्भासित हो जाता कि मनुष्य और ईश्वर क्या पदार्थ है"

अर्थात् एक साधारण पुष्प की सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर वह विश्व की सत्ता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता। इस से विदित हुआ कि दोनों की सत्ता एक है। महात्मा टालस्टाय अपनी जीवन-गाथा लिखते एक स्थान पर लिख गये हैं :—

"I was all alone and it seemed to me, that mysterious, majestic nature, the attractive bright disc of the moon, which had for some reason stopped in one undefined spot in the pale blue sky, and yet stood everywhere and, as it were filled all the immeasurable space, and myself, insignificant worm, dafiled already by all pretty wretched human passions, but with all immeasurable mighty power of love, seemed to me in

these minutes that nature and the moon and I were one and the same."

अर्थात् मै एकान्त मे बैठा था। मुझे प्रतीत हुआ कि रहस्य-मयी महिमान्विता प्रकृति देवी तथा उज्ज्वल चन्द्रमा का बिम्ब, जो किसी अनिर्वचनीय कारणवश नीलाकाश के एक प्रान्त मे ठिठक गया है तो भी सर्वत्र व्याप रहा है और अगणित देशों को अपनी रश्मियों से प्रकाशित कर रहा है और मै इस पृथ्वी का एक तुच्छ जीव, संसार के सभी प्रकार के कलुषित विचारो के वशीभूत पर प्रेम के अनिर्विण्ण स्त्रोत मे निमग्न मुझे उस समय यही प्रतीत होता था कि यह पृथ्वी, यह चन्द्रमा और मै एक ही स्थान के जीव है। इनमे और मुझ मे कोई भेद नही है।

आध्यात्म विज्ञान के प्रभाव से महर्षियो ने इसी रहस्य का उद्घाटन किया था। यही कारण है कि यह वर्णहीन भूमि ही "पूर्ण मै हूँ" का कर्मक्षेत्र है। "मै अपूर्ण हूँ" यह भाव सर्वत्र पार्थक्य का अनुभव कर के अपने क्षुद्र शरीर को ही कर्मकेन्द्र मान लेता है। हमारी 'अपूर्णता' मे 'अहम्' का भाव भरा है। पर पूर्णता का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर 'अहम्' का भाव विलीन हो जाता है और उस सच्चिदानन्द की व्यापकता का बोध होता है। इससे यह निश्चय हुआ कि हमारी पूर्णता कर्मयोग मे और अपूर्णता कर्मभोग मे है। जब तक हम कर्मभोगी रहते है अपूर्ण रहते है, और जब हम कर्मयोग मे निष्ठित होते है कर्म-योगी बन जाते है।

मनुष्य असीम शक्ति प्राप्त कर लेने पर भी 'अहम्' रूपी

शब्द के फेर मे पड कर 'अहम् महीयान्' के भाव को व्यक्त करने मे अपनी प्राकृत महत्ता भी खो बैठता है।

दक्ष प्रजापति के यज्ञ की पौराणिक कथा इसी सिद्धान्त को पुष्ट करती है। अशेष गुणो से युक्त हो कर भी दक्ष सर्वेश शिव की महत्ता को भूल गये और उनको नीचा दिखाने के लिए अपने "अहम् महीयान्" के भाव को व्यक्त करने लगे। परिणाम यह हुआ कि उनका घोर पतन हुआ, जो यज्ञकुण्ड उन्होंने यज्ञ पदार्थों की आहुति के लिए बनाया था, उसमे उन्ही की आहुति दे दी गई। दक्ष इतने कार्यकुशल थे कि वे वास्तव मे दक्ष नाम को चरितार्थ करते थे। उनके सोलह कन्याये थी। उनमे से तेरह कन्यायें धर्म को, एक अग्नि को, एक संयत पितृगण को, और एक संसार के कष्ट निवारक, कल्याण-कारक शिव को प्रदान की गई थी। जिन त्रयोदश कन्याओ को उन्होंने धर्म को पत्नीत्व रूप से दिया उनका नाम था-श्रद्धा, मैत्री, दया शान्ति, तुष्टि, पुष्टि,बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री तथा मूर्ति। इन त्रयोदश कन्यायो के निम्न लिखित पुत्र उत्पन्न हुए:—श्रद्धा के शुभ, मैत्री के प्रसाद, दया के अभय, शान्ति के सुख, तुष्टि के हर्ष, पुष्टि के स्मर, क्रिया के योग, उन्नति-के दर्प, बुद्धि के अर्थ, मेधा के स्मृति, तितिक्षा के मंगल, ह्री के विनय और सर्वगुण सम्पन्ना मूर्ति से नर-नारायण नाम के दो ऋषिकुमार उत्पन्न हुए।

पुष्टि मे स्मर की उत्पत्ति हुई। इससे प्रगट होता है कि पुष्टि प्राप्त होने से ही एक अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि होती है। 'स्मर' शब्द 'स्मि' धातु से बना है। इसका शब्दार्थ है मुस्कराना। 'असीम उन्नति हो जाने पर जो एक तरह का घमण्ड दृष्टिगोचर

होने लगता है वह भी धर्म का सगा भाई है। इसलिए दर्प को पाप से परिवेष्टित नहीं मानना चाहिए। बुद्धि से अर्थ का उद्भव है अर्थात् अभीष्ट पदार्थ की सिद्धि बुद्धि द्वारा ही होती है। मूर्ति से अभिप्राय प्रकृति के प्रतिरूप से है। इसीमे सत्व, रज और तमोगुण की लीला होती है और यही कारण है कि मूर्ति को सर्व गुणोत्पत्ति स्वरूपा कहते है, तथा नेत्रो मे धर्म रूपी अंजन लगा कर इसकी उपासना करने से विदित होता है कि नर और नारायण परस्पर किस तरह आबद्ध हैं। इस प्रगट विश्व मे— अर्थात् इस संसार मे प्रकृति का जो रूप हम देखते है। भगवान का जो दिव्य प्रकाश है—उसी को हम नाम संज्ञा देते है। नर और नारायण का सौहार्द अर्थात् नारायण नर के मङ्गल का किस प्रकार विधायक है इस त्रिगुणात्मक का इस विश्व के अनुष्ठान मे प्रत्यक्ष रूप से चिन्तन करने से चित्र उद्‌भासित हो उठता है।

यहा तक तो हम यह देखते रहे कि धार्मिक पुरुष श्रद्धा, मैत्री आदि तेरह कन्याओं की उपासना द्वारा क्या-क्या प्राप्त कर सकता है।

दक्ष ने स्वाहा नाम की अपनी कन्या अग्नि को दी, क्योकि शास्त्रों का विधान है कि संसारी-गृहस्थ को देवता की प्रसन्नता के लिये यज्ञ अवश्य करना चाहिए। 'हवन' की आहुति देते समय 'स्वाहा' मन्त्र का उच्चारण करना पड़ता है।

पन्द्रह कन्याओ के बाद सब से छोटी सोलहवी कन्या का जन्म हुआ। श्रद्धा, मैत्री दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा तितिक्षा, ह्री तथा मूर्ति इन तेरह मानसिक, शारीरिक तथा नैतिक शक्तियों के तथा इनके फल स्वरूप उन सब गुणों की

प्राप्ति हो जाने पर मनुष्य स्वतः देवता तथा पितरो के प्रति श्रद्धा-युक्त होकर श्राद्धादि करता है और कृतकृत्य होता है। इस प्रकार के उत्कृष्ट जीवन गठित होने पर सती का जन्म होता है। समस्त ब्रह्माण्ड के मूल मे जो शक्ति है, समस्त अनित्य को ढके हुए स्थित जो नित्य शक्ति, नित्य प्रति क्रीडा करती है, और जो उत्पन्न करने वाली, पालन करने वाली और अन्त मे संहार करने वाली आदि शक्ति है उनका ज्ञान मिलता है। जिन लोगो ने उस आदि शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर लिया है वे ही, सृष्टि, स्थिति तथा लय-कर्त्ता का ज्ञान प्राप्त कर इस भव की बाधा से मुक्त हो गये है। यही कारण है कि तत्वदर्शी महर्षि ने सती के विवाह की कल्पना भव-जाल को नाश करने वाले भव अर्थात शिव के साथ की है।

जिन्हे इस महत् ज्ञान की पूर्णतया प्राप्ति हो गई है, वे ब्रह्मानन्द का ज्ञान-प्राप्त करके संसार के सभी भय-बाधाओं से मुक्त हो जाते हैं। जो जीव यह अधिकार प्राप्त करके भी उससे लाभ नही उठाना चाहते वे ही दक्ष की भांति अभागे है। दक्ष ने इस प्रकार उच्च ज्ञान का अधिकारी बन कर भी यज्ञ मे महादेव को निमन्त्रित नही किया। उनके प्रताप को भूल कर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिये विश्व प्रख्यात यज्ञ प्रारम्भ किया। इसका जो परिणाम होना चाहिए था वही हुआ। सती ने प्राण त्याग किया। जो शक्ति शंकर की अर्धांगिनी बनी थी, दक्ष के हृदय मे वह शक्ति अंतर्हित हो गई। जिस समय वह शक्ति लुप्त हो गई, उसी समय रुद्र के तेज से वीरभद्र का अवतार हुआ, जिसने दक्ष के सम्पूर्ण यज्ञ का विध्वंस करके दक्ष का सिर काट डाला और उसे

उसी अग्निकुण्ड मे डाल दिया। नाना गुणो से विभूषित, सैकड़ो विधि के शुभ अनुष्ठानो को करने वाला मनुष्य भी यदि भगवान का शत्रु बन जाता है तो रुद्र विधि से इसी प्रकार उसके सभी गुणो और शुभाशुभ कर्मो का नाश हो जाता है और उसके मनुष्यत्व का अपहरण हो जाता है। दुर्योधन १८ अक्षौहिणी नारायणी सेना लेकर महाभारत के युद्ध मे प्रवृत्त हुआ था। पर एक नारायण की सहायता बिना उसका सर्वस्व नाश हो गया। अर्जुन के एकमात्र सहायक वे ही नारायण थे और अर्जुन त्रैलोक्य-विजयी हुआ। पर एक बार यही अर्जुन नारायण से विमुख होकर सभी साधनो और उपकरणो के रहते भी साधारण ग्वालो से परास्त होकर महाराज युधिष्ठिर से बोला था—

सोऽहम् नृपेन्द्ररहितः पुरुषोत्तमेन सख्याप्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमंगरक्षन् गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि।

हे राजन्! मै वही अर्जुन हूँ, पर मै परमप्रिय मित्र पुरुषोत्तम भगवान् के विरह से कातर होकर हृदय की सारी शक्तियों से शून्य हो गया हूँ। इस प्रकार मै मार्ग मे श्रीकृष्णचन्द्र के परिवार की रक्षा करता आ रहा था कि नीच गोप-गणों ने साधारण स्त्री की भांति मुझे परास्त कर दिया।

नारायण के बिना सारी तैयारी और समस्त साधन व्यर्थ है। इसलिए नारायण से शून्य श्रद्धा मैत्री आदि भी व्यर्थ हैं। अपूर्ण "अहम्" की यही दुर्दशा होती है।

इस 'अहम्" के दूपित भाव ने ही अनेक साम्राज्य और राजा-महाराजाओं का नाश किया है, करता है, और भविष्य मे

भी करेगा। दक्ष के यज्ञ का उदाहरण व्यक्तिगत था, पर समान-गततत्व के लिए भी यही बात निश्चित है।

संसार मे बाह्य परोपकार की वृत्ति बहुत अधिक देखने मे आती है। संसार के प्राणियो की मङ्गल-कामना से किसी ने दातव्य औषधालय के निमित्त एक लाख रुपयों का दान कर दिया है, किसी ने देश के कल्याण के निमित्त बडा प्रयास किया है। पर यमराज के खजानची चित्रगुप्त महाशय ने उस रकम को, जमा-खाते न डालकर खर्च-खाते डाल दिया है, उसकी अवस्था ठीक दक्ष प्रजापति की सी है, क्योंकि वह भी 'अहम्' के फेर मे पड कर भगवान की श्रेष्ठता को भूल कर समस्त प्राणीमात्र को हीन समझ बैठा है।

प्राचीन इतिहास का मनन करने से यही भाव बोधगम्य होता है कि अनेक जातियाँ अनेक अंशो मे उच्चतम और परिपूर्ण होकर भी "अहम् की अपूर्णता" को प्रशंसा मे इतनी व्यस्त हो गई कि अपना सर्वनाश कर डाला। यह देश ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्राचीन रोम और यूनान इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आज भी यूरोप मे इसी "अपूर्ण अहम्" की लीला पूर्णरूप से चरितार्थ होरही है। अभी थोड़े ही दिनो की बात है—अमरीका नगर मे अमरीकन जेम्स और नीग्रो जाति के जैक जानसन का मल्ल-युद्ध हुआ था। इस युद्ध मे जैक जानसन ने जेम्स जेफ्रिस को हरा दिया था। यह पराजय अमरीका निवासियो के लिए असह्य थी, नगर नगर मे अमरीका के निवासी काले हबशियो पर अनेक तरह के क्रूर अत्याचार करने लग गये थे। न्यूयार्क नगर मे तो उनका एक महल्ला ही जला दिया गया था। इसी तरह अन्य अनेक स्थानों

पर भी उन्हें इस प्रकार के अत्याचार सहन करने पड़े थे। पर इससे यह न समझना चाहिए कि हब्शी लोग सर्वथा चुपचाप बैठे रहकर अत्याचार सह रहे थे। उन लोगों ने भी कई स्थानो पर बदले की भावना से प्रभावित हो कर अपनी पूर्ण अमानुषिकता का परिचय दिया था। यदि "अपूर्ण अहम्" का यह ताण्डव-नृत्य अधिक काल तक इसी प्रकार चलता जाय तो इसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। हमारे देश में किकरसिंह और कल्लू मियां की जो कुश्ती हुई थी उसमें न तो हिन्दुओं ने ही किक्कर के जय लाभ की कामना की थी और न मुसलमानो ने ही कल्लू के विजय की। परम परमेश्वर चिदानन्द की प्रेरणा से इस देश के अधिवासीगण "अपूर्ण अहम" से मुक्त हो गये हैं और यदि उसकी प्रेरणा रही तो इसी प्रकार मुक्त रहेंगे।

: ५ :

कर्मकेन्द्र

इस जगत मे भगवान् का यही विधान है। वह 'अहम्' को सदा हीन और तुच्छ प्रमाणित करता रहा है। विश्व के रहस्य के मार्ग को भली भाँति जानने वाले महात्मा ईसा ने कहा था : - "जो अपने को उच्च समझता है, प्रभु उसे नीच और जो अपने को नीच समझता है प्रभु उसे उच्च बनाते है। 'अपूर्ण अहम्' सदा अपनी बड़ाई करने मे प्रयत्नशील रहता है और यही कारण है कि वह सदा हीन बना रहता है। 'पूर्ण अहम्' समस्त विश्व को उच्च स्थान प्रदान करके केवल आप सब से नीचे रह गया और यही कारण है कि भगवान् ने उसे उठा कर सब से ऊपर बैठा दिया। यही 'पूर्ण अहम्' प्रकृत कर्म केन्द्र है। जो सेफ म्याटसीनी ने इसी 'पूर्ण अहम्' को कर्मकेन्द्र का प्रकृत अधिकारी मान कर कहा था :—

"Ask yourself as to every act you commit within the circle of family or country, If what I now do were done by and for all men would it be beneficial or injurious to Humanity ?' And if your conscience tell you it would be injurious desist, desist even though it seem that an immediate advantage to your country or family would be the result."

प्रत्येक कार्य के आरम्भ करने के पूर्व चाहे वह कार्य देश के लाभ के लिए हो या अपने वंश के कल्याणार्थ, यह निश्चय कर लो कि जो कुछ तुम करने जा रहे हो वह यदि समस्त प्राणियो द्वारा सब के लिए ही किया जायगा तो उसका फल मानव-समाज के लिए लाभदायक होगा या हानिकारक। यदि तुम्हारा विवेक कहता है कि इससे हानि होगी तो ठहर जाओ चाहे उस काम के करने से प्रत्यक्ष मे तुम्हारे देश या वंश का कुछ लाभ ही क्यों न होता हो। महात्मा लामिने (Lamenmais) ने कहा था :—

"When each of you, loving all men as brothers, shall reciprocally act like brothers, when each of you seeking his own well-being in the well-being of all, shall identify his own life with the life of all, and his own interest with the interest of all, when each shall be ever ready to sacrifice himelf for all the members of the Common Family; equally ready to sacrifice themselves for him; most of the evils which now weigh upon the human race will disappear, as the gathering vapours of the horizon on the rising of the sun; and the will of God will be fulfilled. for it is His will that love shall gradually unite the scattered members of the Humanity and organize them into a single whole, so that Humanity may be one, even He as is one"

अर्थात् जब तुम लोग परस्पर भ्रातृभाव से प्रेरित होकर एक दूसरे के कल्याण के लिए आचरण करोगे, जब तुममे से प्रत्येक मानव-

जाति के कल्याण में ही अपने कल्याण की कामना करेगा, प्राणी-मात्र के जीवन को अपना जीवन समझेगा और अपने स्वार्थ को उन्हीं के स्वार्थ में मिला देगा, जब प्रत्येक व्यक्ति अपने को एक महान् परिवार का अङ्ग मान कर अपने जीवन को उस महान् परिवार के लिए उत्सर्ग करने को तैयार रहेगा और जब उस महान् परिवार के अन्य लोग भी उसी प्रकार उसके लिए उत्सर्ग करने को तैयार रहेंगे, उस समय मानव-समाज के अन्तर्गत अनेक प्रकार की बुराईयों का नाश हो जायगा, मानों सूर्य के दिव्य प्रकाश ने क्षितिज पर घिरे कुहरे के मण्डल का नाश कर दिया है। उस समय ईश्वर की प्रेरणाओं की पूर्ति होगी, क्योंकि उसकी प्रेरणा है कि विच्छिन्न मानव-समाज इसी प्रेम की ग्रन्थि से बँध कर एकीभूत हो, जिससे उसके (ईश्वर के) अनुरूप मानव-समाज भी एक हो।'

महात्मा विदुर ने भी महाभारत में इसी 'पूर्ण अहम्' को विस्तार का केन्द्र बनाने को कहा है–

हितं यत् सर्वभूतानां आत्मनश्च सुखावहम्,
तत् कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये।

मनुष्य को वही काम करना चाहिए जो समस्त प्राणियों के लिए कल्याणकारक और करनेवाले को सुख देने वाला हो, क्योंकि विधाता के न्याय में सर्वार्थ-सिद्धि का यही मूल तत्व है।

दार्शनिक चूड़ामणि इमानुअल क्याण्ट ने भी यही कहा है:– 'मनुष्य को इस भाव से आचरण करना चाहिए जिससे उसके आचरण को विधि-विहित समझ कर ग्रहण किया जा सके।'

उपरोक्त दानों उपदेशों के एक ही भाव है। तुम्हारा कल्याण इसी मे है कि तुम अपने को विश्व का अंश मानो। इसलिए सारा विश्व तुम्हारा है और तुम सारे विश्व के हो। संकुचित हृदय हो कर तुम जिसको 'अपनत्व' का सम्बोधन देते हो वह वास्तव मे वैसा नही है। बल्कि सारा तुम्हारा है और उसी की मङ्गल-कामना तुम्हे करनी चाहिये। आओ, हम सभी डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सुर मे सुर मिला कर गावे :—

आमार एकला घरेर आड़ाल भेंगे विशाल भवे,
प्रानेर रथे वाहिर हते पारन कवे।

इस संसार मे तुम्हारे मङ्गल-साधन का अभिप्राय क्या है? केवल अपने अन्दर सच्चिदानन्द परम पिता की प्रतिष्ठा का साक्षात्कार मात्र। इस प्रतिष्ठा का अनुभव ही तुम्हारा लक्ष्य है। उसी लक्ष्य की तरफ़ दृष्टि करके कार्य करने वाली, ज्ञान को प्राप्त करने वाली, तथा चित्त को प्रसन्न करने वाली सफलता की ओर अबोधरूप से अग्रसर होना ही कर्मयोग है।

इससे कर्मयोग का अभिप्राय निकला श्री विष्णु के चरण कमलों मे प्रीति उत्पन्न करने की कामना अर्थात् जो समस्त संसार मे व्याप्त होकर एक हो रहा है उसीके चरण-कमलों मे अनुराग। इस स्थान पर स्वार्थ और परमार्थ एक हो जाता है। इसी भाव को हृदयंगम करके ही रामप्रसाद ने कहा था :—

आहार कर मने कर आहुति देह श्यामा माके।
नगर फिर मने कर प्रदक्षिण श्यामा माके॥

जिस समय मै अन्न का कौर उठा कर मुँह मे रखता हूँ, उस

समय मुझे यही प्रतीत होता है कि मैं माँ को आहुति दे रहा हूँ। और जिस समय मैं नगर मे फेरी देता हूं, उस समय मुझे यही बोध होता है कि मैं माँ की प्रदक्षिणा कर रहा हूं।

भगवद्‌गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग का निम्न लिखित मूल मन्त्र बतलाया है:—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥

यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुतेः। श्रुतियों ने यज्ञ शब्द का अर्थ विष्णु बतलाया है। विष्णु के चरणों मे प्रीति उत्पन्न करने के हेतु के अतिरिक्त जो कर्म किया जाता है वह संसार मे प्राणी को बन्धनयुक्त करता है। इसलिए विष्णु को प्रसन्न करने के लिये कर्म करो। आसक्ति का त्याग करो।

श्रीमद्‌भागवत मे नारद मुनि ने व्यासदेव को त्रिताप—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक से मुक्त होने का निम्नलिखित उपाय बताया है:—

एतत् संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम्।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम्॥

अर्थात् हे ब्राह्मण तापत्रय से मुक्त होने का केवल यही उपाय है कि प्रत्येक कर्म मे परमेश्वर के वर्तमान होने की भावना कर लो। इस पर यह आशंका उठ सकती है कि कर्म में तो बन्धन है, और जिसमे बन्धन है उसमे फिर मुक्ति कैसे? उसके लिए फिर नारद मुनि ने कहा है:—

आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम्।

जो वस्तु मनुष्य को दुःख देती है, उस वस्तु से वह रोग नही मिट सकता। पर यदि उस वस्तु मे और अनेक वस्तुएँ मिला दी जायँ तो फिर वह वस्तु उस दु.ख को मिटाने योग्य बन जाती है।

एव नृणांक्रिया योगाः सर्वे ससृतिहेतवः ।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे।

इसी प्रकार मनुष्य का आचरित कर्म बन्धन का हेतु हो कर भी भगवान के चरणों में अर्पित होने पर वही मुक्ति का हेतु हो जाता है। जो लोग सकाम शुभ कर्म करते है:—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना, गतागतं कामकामा लभन्ते ।

वे लोग उन शुभ कर्मो का फल विशाल स्वर्ग लोक मे प्राप्त करके पुण्य क्षय हो जाने पर फिर मृत्यु-लोक मे उतरते है। इस प्रकार वेद-विहित कर्मानुष्ठान मे तत्पर हो कर भी कामना के फेर मे पड़ कर बराबर आवागमन के चक्कर मे पड़े रहते है।

जब तक पुण्य फल का अवशेष रहता है तब तक तो स्वर्ग के असीम आनन्द का उपभोग करते है और जब पुण्य क्षीण हो जाता है तब वहाँ से गिर कर पुनः मर्त्य लोक मे आ जाते हैं। जो लोग 'अपूर्ण अहम्' की सत्ता स्वीकार कर के कार्य मे मग्न हो जाते है उनके भाग्य मे स्वर्ग का यह क्षणिक सुख भी नही बदा रहता। जो लोग इस 'अपूर्ण अहम्' की माया मे फँस जाते हैं उन्हे उस शुभ कर्म के फल की प्राप्ति कदापि नही हो सकती। वे सांसारिक जीवो की आँखो मे धूल झोककर कुछ दिन तक अपना

काम भले ही चला लें, पर ईश्वर की आँखों में धूल कौन झोंक सकता है ? इन दोनों में ही हानि है । पर 'अपूर्ण अहम्' की भक्ति में तो और भी अधिक हानि है क्योंकि सकाम कर्म तो भगवान के चरणों में प्रार्थना करने की प्रेरणा भी करता है पर 'अपूर्ण अहम्' तो मनुष्य को एकदम अन्धा बना देता है और मनुष्य को ईश्वर के बराबर बन बैठने के लिए प्रेरित करता है।

: ६ :

निष्काम कर्म—प्रेम के मार्ग में

निष्काम कर्म ही सात्विक कर्म है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता मे कहा है:

> नियतं संगरहितमरागद्वेषत: कृतम् ।
> अफलप्रेपसुना कर्म यत्तत् सात्विकमुच्यते ॥

अर्थात् जो कर्म विहित विधि के अनुसार आशा-रहित राग-द्वेष शून्य तथा फलाफल की इच्छा न रखते हुए किया जाता है उसे ही सात्विक कर्म कहते हैं। और

> असक्तोह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।

जो मनुष्य आसक्ति रहित होकर काम करता है वही परम पद को प्राप्त हो सकता है।

यदि अनवरत रूप से सदा निष्काम कर्म का आचरण नहीं किया जा सकता तो जितना सम्भव है उतना ही करना चाहिये क्योंकि उतना ही कर्म यदि अधिक नही तो कम से कम इस संसार-चक्र मे से निकलने मे प्राणी की सहायता अवश्य कर सकता है।

इसीके अनुसार भगवान श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र मे अर्जुन से निष्काम भाव से युद्ध करने के लिये कहा था: —

> सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
> ततो युद्धाय युज्यस्व नैनम् पापमवाप्स्यसि ॥

अर्थात् सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय के विषय मे उदासीन भाव धारण करके युद्ध करने के लिए तैयार हो जाओ। इस तरह तुम पाप के भागी नहीं हो सकते। इस प्रकार की बुद्धि हो जाने पर 'कर्मबन्धन प्रहास्यसि' कर्म-बन्धन छूट जायगा और यही निष्काम कर्म का सच्चा स्वरूप है। और

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

अर्थात् इस निष्काम कर्मयोग मे आरम्भ का नाश नहीं, इसमे किसी तरह की असफलता की सम्भावना नहीं, इसमे किसी तरह की हानि की भी सम्भावना नहीं। यदि इस निष्काम कर्म का थोड़ा भी आचरण हो जाय तो यह बड़े भारी भय से रक्षा करने मे समर्थ होता है।

कुछ लोगो का कथन है कि निष्काम कर्म मे प्रेरणा-शक्ति नहीं है। फल प्राप्ति की इच्छा से, इष्ट साधन की आशा से मनुष्य जिस तरह काम करने के लिए उद्यत हो सकता है, वह बात निष्काम कर्म मे कहाँ से आ सकती है? पर इस तरह की शका का निवारण सहज मे ही हो सकता है। कभी-कभी यह प्रत्यक्ष देखने मे आता है कि मनुष्य अपना काम करने मे उतनी तत्परता नही दिखाता जितना दूसरो के लिए दत्तचित्त और सयत्न रहता है। प्रेमियोमे तो यह बात और भी प्रत्यक्षरूपसे दिखाई देती है जिससे हम प्रेम करते हैं उसके लिए हम अपने सुख-साधन को तुच्छ समझते है। प्रेमपात्र के लिये प्राणो को भी गवॉ देना अति सहज प्रतीत होता है। पिथियास के निमित्त डेमन किस प्रसन्नता तथा उत्साह के साथ अपने प्राणों को देने के लिए तैयार हो गया था।

जिस समय हत्यारो ने नारायणराव पेशवा पर सशस्त्र आक्रमण किया था, उस समय प्रभु-भक्त दास चाफाजी टिलेकर ने अस्त्र-शस्त्र के न होने पर भी किस प्रकार अपने शरीर से प्रभु के शरीर को ढक लिया था और पाषाण की तरह अटल पड़ा शस्त्रों के आघात को सहते-सहते प्राण त्याग किया था। परमप्रिय और पूज्यनीय प्राणो को,इस प्रकार इतने सहज मे, त्याग देने की प्रेरणा कहाँ से आती है ? यह प्रमाण तो बड़े-बड़े उदार हृदय महानुभावो के दिये गये है। पर साधारण मनुष्यो मे भी यह बात देखने मे आती है कि हम जिसे प्यार करते है उसको सुखी करने के लिए यदि हमे थोड़ा कष्ट भी उठाना पड़ता हो तो हम उसे सानन्द बरदाश्त कर लेते हैं। एक समय की बात है कि दो थके-मांदे बटोही एक स्थान पर आ जुटे। मगर वह स्थान दो के रहने योग्य नही था। ऐसी अवस्था मे क्या भाव उदय होते है ? क्या एक को सोने के लिये पर्याप्त स्थान दे कर दूसरा ऊँघते-ऊँघते ही रात काट कर आनन्द प्राप्त नही कर सकता ? इस भाव की मात्रा जब अत्यधिक बढ़ जाती है, तब प्रेमी के लिए प्राण त्याग करना अति सहज और आनन्दप्रद प्रतीत होता है। किसी व्यक्ति विशेष के प्रति प्रेम-बन्धन मे बँध जाने से यदि निष्कामरूप से उसके सुख की कामना की प्रवृत्ति देखने मे आती है,तो यदि किसी व्यक्ति विशेष का इसी प्रकार का अनुराग या प्रेम, किसी धर्म या सम्प्रदाय, देश अथवा जाति की मङ्गल-कामना से प्रेरित हो कर अपने सम्पूर्ण सुख-साधनो और आनन्द की सामग्रियो को तिलांजलि देकर उनका त्याग नही कर देगा ? ऐसे ही अनेक महात्माओं के जीवन-चरित हम लोगो के सामने है, जिन्होने धर्म के लिए

अथवा स्वदेश के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया है। *

धर्म के लिये, देश के लिये निष्काम कर्मयोग में प्रवृत्त होने वालों के उदाहरण इस देश में हजारों और लाखों मिलेंगे। राजपूत रमणी पन्ना का उदाहरण कितना रोमांचकारी है। राजकुमार उदयसिंह के प्राणों की रक्षा बनवीर के हाथों से करने लिए उनकी इस धाय पन्ना ने उनके स्थान पर अपने प्राण से भी प्यारे पुत्र को सुला दिया और बनबीर की पैनी छुरी की धार से अपने हृदय मात्र के खण्ड-खण्ड होते अपनी ही आँखों से देखा। रूस-जापान-युद्ध के समय एक समाचार प्रकाशित हुआ था कि एक रूसी, वानसान नामी एक जापानी रमणी के साथ विवाह करके याकोहामा नगर में रहता था। रूसी अपनी स्त्री से कोई भेद नहीं रखता था, केवल एक छोटी सी सन्दूक उससे छिपा कर रखता था। किसी भी तरह उस सन्दूक को उसे नहीं देखने देता था। स्त्री को इस बात का सन्देह हुआ कि उसका पति रूसी गुप्तचर है और जापान राज्य की भेद भरी बातें संग्रह करके इसी सन्दूक में छिपा कर रखता है। प्रियतम पति के प्रेम की अपेक्षा प्रिय स्वदेश का प्रेम उसके हृदय में अधिक वेग से उमंग मारने लगा। निदान एक दिन उसने अपने पति को शराब पिला कर मतवाला बना दिया और उस सन्दूक के सम्पूर्ण कागज-पत्रों को लेकर पुलिस के सम्मुख उपस्थित हो गई। नशा उतरतेही उसने सन्दूक को तलाश किया। उसे न पाकर वह समझ

---

* बीसवीं सदी का सब से बड़ा त्यागी वीर महात्मा गाँधी है, और उसके बाद लाला लाजपतराय, देशबन्धु दास और पंडित मोतीलाल नेहरू का नम्बर आता है।

गया कि उसकी स्त्री ने क्या कार्रवाई की है। वह उसी दम उठा और जापान छोड़ कर भाग गया। किस भाव से प्रेरित हो कर उस जापानी रमणी ने अपने परम आनन्दमय गार्हस्थ्य जीवन को इस प्रकार अगाध सागर के बीच मे निमग्न कर दिया और फिर भी सुख तथा शान्ति का अनुभव किया! अनेक जापानी रमणियों ने तो यहाँ तक किया कि जब उन्होंने देखा कि उनके पति केवल इस लिए युद्ध में नहीं जाते हैं कि उन (रमणी) लोगों का भरण-पोषण करने वाला कोई नहीं रह जाता तो उन्होंने अपने-अपने पतियो का साथ त्याग दिया और इस तरह युद्ध मे जाने के लिए उनका मार्ग साफ़ और कंटक रहित कर दिया। एक जापानी वृद्धा की कहानी और भी रोमांचकारी है। उसका इकलौता पुत्र ही उसका अवलम्ब था। उसने देखा कि जब तक वह जीती है उसका पुत्र युद्ध से भाग न लेने के लिए बाध्य रहेगा। निदान उसने एक पैना छुरा लेकर अपनी छाती मे भोंक लिया और रक्तरञ्जित उसी छुरे को अपने पुत्र के हाथ मे दे कर उसने उसे युद्ध मे प्रवृत्त होने के लिए शुभ आशीर्वाद दिया और आप स्वयं आनन्द-पूर्वक परमधाम को सिधार गई! यह प्रेरणा उसे कहाँ से मिली थी?

जिन लोगों का हृदय और भी उदार होगया है, जिनके प्रेम का विस्तार और भी दूर तक फैल गया है, वे लोग इस संसार के कल्याण के लिए भगवान् के कानून की प्रतिष्ठा की कामना से, किसी जाति या देश का ख़याल न कर, रोग, शोक तथा सन्ताप का अपहरण करने के लिये उनके हृदय मे न जाने कौन सी प्रेरक शक्ति आ उपस्थित होती है, जिससे कि वह देश और जाति की भलाई

के हेतु खुशी-खुशी प्राण त्याग करते है। फादर डेमियन इसके ज्वलंत उदाहरण है। इसी तरह संसार के मङ्गल की कामना से फ्रास निवासी मार्क्विस लाफायत् अमरीका वासियो की पराधीनता पाश को काटने के लिए उन्मत्त हो उठा था। भला एक फ्रास-निवासी को अमरीका से क्या सहानुभूति थी ? पर उसकी आत्मा निश्चित नही रह सकी। जिस समय अमरीका ने स्वतन्त्रता की घोषणा कर इङ्गलैण्ड के साथ युद्ध ठान दिया था, उस समय इस वीर की अवस्था केवल १६ वर्ष की थी। इस युद्ध का समाचार सुनते ही वह अमरीका के पक्ष मे युद्ध करने के लिए दृढ़ सङ्कल्प होगया। उसने काउंट डीब्रेलि से सलाह ली। उन्होने कहा—"मैने तुम्हारे पिता को मिंडेन युद्ध मे और चाचा को इटाली के युद्ध मे सहर्ष प्राण त्यागते अपनी आंखो देखा है। उनके वंश के एक मात्र तुमही आधार रह गये हो, उसके मूलोच्छेदन की मै राय नही दे सकता।" पर लाफयेत को इससे सन्तोष न हुआ। वह अपने दृढ़ सङ्कल्प से च्युत न हो सका। इसी बीच उसे अमरीका वालो की घोर पराजय का दुःखपूर्ण समाचार मिला। दूसरे ही दिन उन लोगो के न्यूयार्क त्याग का संवाद मिला। इस समाचार से भी वह अधीर नहीं हुआ। उसके हृदय मे विश्वजनीन जो प्रेम भाव था वह और भी वेग से बहने लगा। अमरीका मे रहने वाले फ्रांस के प्रतिनिधि फ्रैंकलिन औरली आदि ने भी उसे अमरीका जाने से रोकना चाहा। स्वयं फ्रांस के राजा ने उसे लौटाना चाहा। पर वह किसी भी तरह न रुका। अनेक प्रकार की विपत्तियो को सहता वह अमरीका पहुँचा और रण मे योग देकर उसने अनेक संग्राम मे अपनी वीरता, धीरता और उदारता तथा विशाल-हृदयता का परिचय दिया।

फ्रास की राज्यक्रान्ति में योगदान करके उसने यश कमाया था। उसके प्रति अमरीका का पक्ष लेकर युद्ध भूमि मे जाना हज़ार गुना अधिक और बढ़कर था। स्पेन देश मे राजतन्त्र-शासन प्रणाली की स्थापना का समाचार पाकर राजा राम मोहनराय ने हर्षोत्फुल्ल होकर आनन्दोत्सव मनाया था, क्योंकि उनके विशाल हृदय मे संसार के कल्याण का भाव भरा था। नही तो स्पेन और भारत से क्या सम्बन्ध? जिस समय आप इंगलैण्ड जा रहे थे, नेटाल के बन्दरगाह मे १८३० की क्रान्ति के बाद एक फ्रांसीसी जहाज पर स्वाधीनता की पताका फहराते देख कर आनन्द के मारे वे उछल पड़े और उसको सप्रेम अभिवादन करने के लिए आगे बढ़े कि ठोकर से सख्त चोट खाई। स्वनामधन्य हर्बर्ट स्पेन्सर इसी सार्वभौम प्रेम के प्रताप से सीधे स्वर्ग सिधारे। उन्होने जापान वासी बैरन केनिकोर को निम्न लिखित पत्र भेजा था:—

"आपने हमारे पास अनेक प्रश्न लिख भेजे हैं। उनका उत्तर मै साधारण तरह से दे देता हूं। मेरी समझ मे जापान के राजनैतिक कल्याण के लिये यह श्रेयस्कर होगा कि अमरीका मे यथासम्भव यूरोप के लोग न घुसने पावें। अधिकतर शक्ति-सम्पन्न जातियो के बीच मे आप लोगो का निवास सदा आपद्ग्रस्त होगा। इसलिए विदेशियो को अपने निकट स्थान मे रहने के लिए केवल स्थान देने ही से काम नही चल जायगा। बल्कि सदा इस बात के लिए सतर्क रहना पड़ेगा कि उन्हे कभी स्थान न मिले। प्राकृतिक, शारीरिक तथा मानसिक शक्ति के प्रयोग से जिन वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, उनके आयात, निर्यात तथा विनिमय के निमित्त अन्य देशो के साथ संसर्ग रखने के हेतु जितने नियम उपकारी हो

उनका निर्माण करना आवश्यक है। इस उद्देश्य से किसी भी अन्य, विशेषकर बलिष्ट जाति को आवश्यक्ता से अधिक अधिकार दे देना कदापि उपकारी नही है यूरोप और अमरीका की राज-शक्ति के साथ अपनी वतमान शक्ति की तुलना करने से हमे प्रतीत होता है कि आप लोगो ने विदेशियो के धनोपार्जन के लिए अपने साम्राज्य का द्वार मुक्त कर दिया है। हमे आसंका है कि ऐसी नीति से आपको अनेक तरह के कष्ट होगे, इस विचार से मेरा चित्त अतिशय विह्वल है। यदि कोई राष्ट्र किसी बलिष्ठ शक्ति को एक बार भी आश्रय दे दे, तो वह बलिष्ठ-शक्ति उसकी सत्ता को हडप जाने की ही चेष्टा करेगी। इस बात का आविर्भाव होते ही संघर्ष उपस्थित हो जायगा। परिणाम यह होगा कि विरोधी-शक्ति यह प्रसिद्ध करेगी कि जापान वालो ने ही पहले आतंक उपस्थित किया है, निदान इसका प्रतिशोध करना आवश्यक है। परिणाम यह होगा कि देश के कुछ अंश पर वे आक्रमण कर देंगे और उस भूमि-भाग को उनके लिए स्वतन्त्र कर देना पड़ेगा। इस प्रकार धीरे-धीरे सारा जापान पराजित होकर विदेशियो के हाथ मे आ जायगा। प्रत्येक अवस्था मे यह भवितव्य अनिवार्य होजायगा और यदि आप लोगो ने उपर्युक्त अधिकारो के अतिरिक्त और अधिकार भी विदेशियो को दे दिये तो यह अवस्था और भी नाजुक होजायगी'

जिस महापुरुष के ये वचन है, वह वास्तव मे विश्वव्यापी प्रेम का खजाना था।

सार्वजनिक-हित से प्रेरित होकर काम करने को ही निष्काम कर्म या श्रीविष्णुपाद-प्रेरित कर्म कहते है। पर व्यक्तिगत, साम्प्रदायिक अथवा स्वदेश के स्वार्थ से प्रेरित होकर किया हुआ कर्म विष्णुपद

से प्रेरित होकर अर्थात् निष्काम कर्म हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। यदि यह काम भगवान के नियमो के प्रतिकूल अथवा बिरोधी है तो यह निष्काम कैसे हो सकता है? मान लो कि अपने सम्प्रदाय-विशेष की वृद्धि से प्रेरित हो कर तुमने अन्य सम्प्रदाय या जाति को किसी तरह भी हानि पहुँचायी तो क्या उससे भगवान कभी प्रसन्न हो सकते है? क्योंकि नारायण को दृष्टि मे सारा विश्व एक है!

सबै भूमि गोपाल की यामें अटक कहां ?
जा मन में अटक है सोही अटक रहा ।

वास्तव मे यह समग्र विश्व नारायण का है । यह हमारा है, वह दूसरे का है, इस तरह के संकीर्ण विचार क्यो तुम्हारे हृदय मे उठते हैं? जिसका दृष्टि-कोण संकीर्ण है, मन संकीर्ण है,वही सदा संकीर्ण हो कर रहता है । जो समाज या जाति अपनी संकीर्ण-हृदयता के कारण,इस उदार और विशाल जगत को,अपने हृदय के भीतर लाकर रखने की इच्छा करती है, भगवान उसका फल उसे अवश्य ही देते हैं । ईसाई-धर्मावलम्बी रोमन कैथलिक लोगो द्वारा प्रोटेस्टेण्ट-ईसाई का सताया जाना और रोमन जातियो द्वारा बर्बरों को बाहर निकालने की चेष्टा का फल इतिहास मे जगमगाता हुआ उदाहरण है ।

पश्चिमी जातियों मे अनेक ऐसे हुए है, जिन्हे सार्वजनिक हित-साधन की अपेक्षा अपने देश का स्वार्थ-साधन अधिक आवश्यक प्रतीत हुआ। ऐसे ही लोगो को लक्ष्य करके हर्बर्ट स्पेन्सर ने कहा है:

"हमारे देश मे धर्म का ज्ञान किसे है ? इस विचार से

हमारे मन में घृणा उत्पन्न होती है। स्वदेश-प्रेम के साथ इस धर्म-धर्म के विचार को मिला देने पर कुछ काल के लिए यह ध्वनि सङ्गत प्रतीत होने लगती है। पर बाहरी आवरण उतारकर फेंक देने से ही विदित हो जायगा कि इसका अन्तरङ्ग रूप बहुत ही भिन्न है। चाहे जिस तरफ देखो।"

"थोड़ी देर के लिए खयाल कीजिए कि हमने किसी विदेशी शक्ति के आक्रमण को रोका है। इस स्थान पर स्वदेश-हित-साधन के खयाल से यह आचरण धर्मयुक्त है, क्योंकि आत्मरक्षा केवल धर्म-सङ्गत ही नहीं है बल्कि वह एक तरह का कर्तव्य भी है। इसके बाद कल्पना कीजिए कि हमने किसी अन्य देश पर आक्रमण किया है, दूसरों के देश को दखल कर लिया है, अथवा कोई जाति किसी वस्तु को लेना नहीं चाहती है पर हमने अपने शस्त्र के बल पर उसे वह वस्तु लेने को बाध्य किया है, अथवा हमारे देश का कोई अधिकारी उनके विरुद्ध शासन-दण्ड चलाने की मन्त्रणा देता है और उसके अनुसार हम अन्याय-शासन में प्रवृत्त होते हैं। खयाल कीजिए कि क्या किसी जाति ने आजतक किसी अन्य जाति के साथ इस तरह अन्याययुक्त आचरण करके उसे दोष-पूर्ण स्वीकार किया है? उस समय इस स्वदेश-हित-साधन के स्वार्थ से क्या ध्वनि निकलती है? जिन लोगों को हम सता रहे हैं वे तो धर्म-पथ पर हैं और हम लोग अधर्म-पथ पर हैं। यहाँ पर स्वदेश-हित-साधन की अभिलाषा से यही ध्वनि निकलती है कि हम लोग धर्म को ताक में रखकर अधर्म को पुष्ट करना चाहते हैं। यही शैतान की इच्छा है और हम उसके वशीभूत हो गये हैं। कई वर्ष की बात है कि एक समय मैंने इसी भाव को

ऐसे शब्दो मे व्यक्त किया था कि उसे पढकर लोग आश्चर्य करने लग जायँ और इसे अवश्य ही स्वदेशद्रोही कहने लगें। जिस समय अपने स्वत्वो की रक्षा के बहाने ब्रिटिश सरकार ने दूसरी बार अफगानिस्तान पर चढ़ाई की थी, उस समय हमारे सैनिकों की घोर क्षति का समाचार अखबारो से निकला। उस समय हम लोग अथीनियन क्लब मे बैठे थे। हम लोगो के साथ एक सेनाध्यक्ष भी थे। उन्होने उस प्रसङ्ग की चर्चा छेड़ दी। बातो ही बातो से मैने उनसे कहा—"जो मनुष्य धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय की परवा न कर केवल वेतन के लिए नर-वध करने पर उतारू हो जाता है उसकी मृत्यु से हमे लेशमात्र भी दु:ख नही होता।" मेरे इस उत्तर को सुनकर वह आवाक् रह गये।

"इसके उत्तर मे जो शोर-गुल मचेगा उसे मै जानता हू। कोई कहेगा—'यदि यह मत मान लिया जाय तो सेना का सङ्गठन और राज्य का शासन असम्भव हो जाय। किस भाव से प्रेरित हो-कर अमुक सैनिक युद्ध के लिए प्रवृत्त हो रहा है, इस तरह का निर्णय करने पर तो एक क्षण भी काम नही चल सकता। इस प्रकार से तो साग्रामिक दुर्बलता आ जायगी और जो चाहेगा वह हम पर हमला करके हमारा देश छीन लेगा।' पर यह चिन्ता अकारण है। युद्ध के समय मे देश-रक्षा के निमित्त जिस तरह आज सैनिक प्रचुर संख्या मे पाये जाते है उसी तरह उस दिन भी पाये जायँगे। देश-रक्षा के लिए युद्ध करना प्रत्येक सैनिक अपना कर्तव्य सम-झेगा और उसके लिए खुशी-खुशी प्राण भी देगा। उस समय युद्ध का एकमात्र अभिप्राय आत्मरक्षा रह जायगा। दूसरे देशो पर आक्रमण करने के निमित्त युद्ध होगा ही नही।"

"यह कहना असङ्गत नही समझा जा सकता कि आक्रमण के लिए युद्ध उठ जाने पर फिर रक्षार्थ युद्ध भी उठ ही जायगा । हाँ, आवश्यकता केवल इस बात की घोषणा की है भविष्य मे रक्षार्थ युद्ध के अतिरिक्त आक्रमण के हेतु युद्ध नही किया जायगा ।"

"किन्तु जिन्हे 'हमारा देश' 'हमारा देश' यह चिन्ता सर्वतो रूप से व्याप रही है उन्हे धर्म और अधर्म की चिन्ता कहां ? जिनके भ.व मे इस प्रकार की ध्वनि उठती है और जो यह सोचते है कि आजतक हमने साम्राज्य का उपभोग किया है तो फिर भविष्य मे हम इससे क्यो वञ्चित रहे, वे लोग इस साग्रामिक संयम के विधान को उपेक्षा की दृष्टि से देखेगे । उन लोगो की दृष्टि मे रविवार के दिन गिर्जे से दी हुई धर्म-दीक्षा के अनुसार सोमवार को आचरण करना नितान्त मूर्खता और बेवकूफी है ।"

जो लोग राज्य-सुख-भोग की कामना से सनातनधर्म को भूल जाते है उन्हे परमेश्वर भली-भाति दिखा देता है कि जो जाति स्वदेश-प्रेम और विश्व-प्रेम को परस्पर विरोधी मानती है उसका कल्याण नही है, क्योकि वह अपने पैरो मे आप ही कुल्हाड़ी मार रही है ।

जिन्होने ईशचरणो मे नेह लगाया है उन्होने तो संसारभर को अपना समझ लिया है । उनकी दृष्टि मे संसार के हित के सिवा और कोई बात आ ही नही सकती । भगवान् का भक्त समदर्शी होता है । वह सबसे समान प्रेम करता है, चाहे वह छोटा हो चाहे बड़ा । भगवद्गीता मे भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है:—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

अर्थात् विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण को गौ, हाथी, कुत्ते के कच्चे मांस को खाने वाले चाण्डाल तक को विद्वान लोग बिना भेदभाव की दृष्टि से देखते है । यही आन्तरिक तत्त्व है "यत्र जीवस्तत्र शिव. ।" अर्थात् प्रत्येक जीव मे स्वयं आनन्द-स्वरूप भगवान विराजमान है। युधिष्ठिर के विश्वव्यापी प्रेम से कुत्ते का उदाहरण अब भी गाया जाता है। मनुष्य के प्रेम मे इतर जीवो का तथा उद्भिज पदार्थों का क्या स्थान है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण दैनिक पञ्चयज्ञो मे वर्तमान है।

लाफकेडि हार्न ने अपनी "अनफेमिलियर जापान" नामी पुस्तक मे लिखा है:—मनुष्य देवता के निकट सदा इस बात की प्रार्थना करता है कि हे ईश्वर ! हमारे पालित जीव किसी प्रकार का कष्ट न पावे और सुखी रहे। टोकियो के एकोइन मन्दिर मे पशुओं के स्मृति-चिन्ह रक्खे है और उनकी मंगल-कामना के लिए प्रतिदिन प्रार्थना की जाती है ।

हम लोगो की तर्पण और पिण्डदान की व्यवस्था भी विश्व-जनीन प्रेम का स्वरूप है। तर्पण और पिण्डदान के मन्त्रो मे स्पष्ट लिखा है :—

देवता, यक्ष, नाग, गन्धर्व, अप्सरा, असुर सर्प, गरुड़जातीय पक्षी, वृक्ष, टेढ़े चलने वाले जानवर, विद्याधर, जलचर, खेचर (उड़ने वाले पक्षी), निराहार, पापी धार्मिक आदि सबकी तृप्ति के लिए मै यह जलदान करता हूँ और सबको पिण्डदान करता हूँ ।

इसी प्रकार जैन-धर्मावलम्बियों में पशुओं की रक्षा तथा वृद्ध निरुपाय पशुओं के पालन के लिए पिञ्जरापोल आदि की जो व्यवस्था की जाती है उसका स्मरण करके हृदय गद्गद् हो जाता है। इस प्रकार के सार्वभौमिक प्रेम में क्या आनन्द है! कालरिज ने सत्य ही कहा है :—

"He prayeth best who loveth best
All things both great and small,
For the dear God who loveth us,
He made and loveth——all."

अर्थात् भगवान का वही सबसे प्यारा भक्त है जो छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं पर समान दृष्टि रखता है। क्योंकि इन सभी वस्तुओं का निर्माण उसी समदर्शी महाप्रभु ने किया है जो हमें प्यार करता है और उसी तरह उन्हें भी प्यार करता है।

इसी प्रसङ्ग को लेकर भागवत में लिखा है :—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

अर्थात् जो मनुष्य समस्त प्राणियों में भगवान की छाया देखता है और समस्त प्राणियों को ईश्वर का अंशस्वरूप मानता है वही भगवान का परमभक्त है।

: ७ :

ज्ञान-जनित निष्काम कर्म

इस परिच्छेद मे हम यह दिखाने की चेष्टा करेंगे कि ज्ञानी मनुष्य का कर्मकेन्द्र क्या है और उसे किस द्वार से प्रेरणा मिलती है।

सब से पहले तो ज्ञान के द्वारा ही हमे यह भासित होता है कि मै और समस्त विश्व एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। गीता मे भगवान श्रीकृष्ण ने कहा भी है :—

अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

मै प्रत्येक प्राणी मे अविभक्त अर्थात् एक होकर अधिष्ठित हूँ, पर बाहर से देखने मे भेद प्रतीत होता है और सब भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होते है।

अध्यात्म-विज्ञान मे भी इसी तत्त्व की आलोचना की गई है। प्रकृति-विज्ञान मे भी इसी तत्त्व का उद्घाटन होता है। यदि यह बात ठीक है तो फिर 'अहम्' क्या रहा ? 'अहम्' उसी विश्व मे परिणत हो गया है। योगवाशिष्ठ मे महर्षि वशिष्ठ ने ज्ञान-भूमि का सोपान प्रदर्शित किया है :—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा॥
सत्तापत्तिश्चतुर्थीस्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थभावनी षष्ठी सप्तमी तूर्यगा गतिः॥

अर्थात् शुभेच्छा प्रथम ज्ञानभूमि, विचारणा द्वितीय ज्ञानभूमि, तनुमानसा तृतीय, सत्तापत्ति चतुर्थ, असंसक्ति पञ्चम, पदार्थभावना

षष्ठ और तूर्यगा सप्तम ज्ञानभूमि है।

इसके बाद इन सातों ज्ञानभूमियों की विस्तृत व्याख्या की गई है।

शुभेच्छा—मनुष्य के चित्त में इस भाव का आना कि मैं क्यों मूढ होकर बैठा हूँ, मैं वैराग्य धारण करके शास्त्रों की आलोचना क्यों न करूँ और संतों की संगति से ज्ञानोपार्जन क्यों न करूँ? इसी भाव को शुभेच्छा-ज्ञानभूमि कहते हैं।

विचारणा—शक्तियों के मनन से तथा संतों की संगति से धर्माधर्म, सत्यासत्य, स्थायी-अस्थायी, आत्मा-अनात्मा, कर्तव्य-अकर्तव्य, बन्धन-मोक्ष आदि की विवेचना से जो सदाचारिक विचारों की तरंगे मन में उठती हैं उसीको विचारणा-ज्ञानभूमि कहते हैं।

तनुमानसा सब से प्रथम शुभेच्छा का जन्म हुआ। उसके बाद विचारणा शक्ति द्वारा इन्द्रियादिको के भोग के विषय की तुच्छता का ज्ञान उत्पन्न हो कर उनकी ओर से चित्त मे जो उदासीनता उत्पन्न होती है उसी का नाम तनुमानसा-ज्ञान भूमि है। तनुमानसा अवस्था को प्राप्त हो जाने पर चित्त की प्रवृत्ति फिर विषय-वासना की ओर नहीं दौड़ती। मन की स्थूलता मिट जाती है और सूक्ष्मत्व की प्राप्ति होती है।

सत्तापत्ति शुभेच्छा, विचारणा तथा तनुमानसा इन तीनों ज्ञानभूमियों को प्राप्त कर चुकने पर हर तरह के प्रलोभन से मुक्त हुआ मन विरक्त होकर जिस समय आत्मा मे स्थिर हो जाता है उसी अवस्था को सत्तापत्ति-ज्ञान भूमि कहते हैं।

असंसक्ति—उपर्युक्त चारों तत्त्वों का अभ्यास कर लेने पर जिस विलक्षण सात्विक भाव का उदय होता है, जिसके द्वारा

विगयासक्ति सम्पूर्णतया उच्छिन्न हो जाती है, उसको असंसक्ति-ज्ञानभूमि कहते है ।

पदार्थभावना—उपर्युक्त पाँचो तत्त्वो के अभ्यास से मनुष्य ब्रह्म मे लीन हो जाता है और तब बाह्य और अन्तरंग की चिन्ता मिट जाती है । उस समय सयत्न प्रकृत आत्मतत्त्व की जो चिन्ता उपस्थित होती है उसीका नाम पदार्थभावना ज्ञानभूमि है ।

तूर्यगागति—उपर्युक्त छहो तत्त्वों का अभ्यास करने से आत्मा का भेद-भाव मिट जाता है और आत्मा और ब्रह्म मे समता दीखने लगती है । उसी अवस्था को तूर्यगागति-ज्ञानभूमि कहते है।

इस व्याख्या के बाद वशिष्ठ मुनि ने कहा है:—

ये हि राम महाभागाः सप्तमीभूमिमागताः ।
आत्मारामा महात्मानस्ते महत्पदमागताः ॥

हे रामचन्द्र ! जो महात्मा ज्ञानभूमि की इस सातवी अवस्था तक पहुँच जाते है वे आत्माराम होकर साक्षात परमपद को प्राप्त होते है ।

"भेदस्यानुपम्भतः" अर्थात् किसी प्रकार का भेद-भाव नही है, इस भाव के उदय को ही तूर्यगा-गति कहते है । इस अवस्था मे पहुँचने पर सबमे एकता देखने मे आती है । अपने-पराये का भेद-भाव न जाने कहाँ चला जाता है । सात्विक ज्ञान की उत्पत्ति होने से ही भेद-भाव मिट जाता है । इसी प्रसग को लेकर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा है :—

सर्वभूतेषु येनैकम् भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज् ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥

जिस ज्ञान की प्राप्ति से संसार के सभी प्राणियो मे एकता

का बोध तथा ज्ञान होता है, दुनिया की सारी विभक्त वस्तुओ मे एकता का ज्ञान प्राप्त होता है, उसी ज्ञान को सात्विक ज्ञान कहते है।

एक अविभक्त सत्ता, एक अव्यय वस्तु, सुतरॉ एक सर्व-व्यापी विष्णु से भिन्न हम, तुम आदि भिन्न-भिन्न तुच्छ पदार्थ अब दृष्टि-पथ मे आते ही नही। ज्ञान के इस ऊँचे चबूतरे पर चढ़ जाने पर प्रतीत होगा कि हमारे हृदय से सारी काम-वासनाएँ उठ गई है और हमारे हृदय मे किसी प्रकार की तुच्छ इच्छाओं की वासना नही रह गई है।

इस अवस्था मे पहुँचने पर योगवाशिष्ठ के अनुसार जीवन्मुक्त अर्थात् तूर्यगा-गति-प्राप्त महात्मागण सुख-दु.ख से दूर हो जाते है और कार्याकार्य तथा निजी किसी तरह की प्रवृत्ति भी नही रह जाती। किन्तु लोक तथा समाज के प्रति जो कर्तव्य है उसे नही भूलते और सुप्रवुद्ध मनुष्य की भॉति समाज मे प्रचलित आचार-विचार का पालन करते है, पर आसक्तियो के चक्कर मे नहीं पडते। जिस तरह प्रगाढ निद्रा मे सोये हुए मनुष्य को सुन्दर से सुन्दर स्त्री अपने रूप-सौन्दर्य से मोहित नही कर सकती, उसी प्रकार संसार की क्रियाएँ उन्हे किसी तरह अपने वश मे नही कर सकती। क्योंकि वे आत्माराम-पद को पहुँच गये है, वे आत्मा की लीला मे रत हैं। बाह्य इन्द्रियो का सुख उनके लिए किसी तरह का प्रलोभन उपस्थित नही कर सकता।

वशिष्ठ ने "पार्श्वस्थबोधिताः" कहकर जिस बात की भावना की थी उसीको भगवान् श्रीकृष्ण ने 'चिकीर्षुः लोकसंग्रहम्' से प्रकट किया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा था :—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार मूढ जन विषयों के वशीभूत होकर कर्म करते हैं उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्यों को भी विषय-वासना में न पड़कर संसार के कल्याण के लिए कर्म करना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण के मतानुसार ज्ञानी-जनों की प्रेरणा का कारण संसार के कल्याण की कामना है और महर्षि वशिष्ठ के मत के अनुसार पार्श्वस्थ-बोधन है। ज्ञानी जन उसी काम को करते हैं जिस काम को लोक की रक्षा के हेतु लोकपालादि किया करते हैं। अपने लिए उनका कोई भी इच्छित पदार्थ नहीं है। उनकी कर्म में प्रवृत्तियाँ तो केवल संसार के कल्याण के हेतु से होती है, या फिर इस संसार में महाप्रभु सच्चिदानन्द की प्रतिष्ठा कराने के हेतु से।

भक्त तथा ज्ञानी पुरुष का एक ही कर्म-केन्द्र है, क्योंकि जिस समय 'अहम्' का भाव उठ जाता है और समस्त विश्व का भाव उसका स्थान ग्रहण कर लेता है उस समय ज्ञानी मनुष्य का कर्म-केन्द्र विश्व हो जाता है।

: ८ :

लोकसंग्रह

व्यक्तिगत, सम्प्रदायगत, समाजगत, जातिगत और राष्ट्रगत उन्नति के लिए लोग आवश्यक प्रयत्न करते है । उन सबका एक ही कर्म-केन्द्र है, कारण कि सबका मूल एक ही है । कर्म-केन्द्र तो भिन्न-भिन्न शाखा के रूप मे है । भगवान ने कहा भी है 'एकोऽहं बहु स्याम्'', अर्थात् मै एक होकर भी अनेक रूप धारण करता हूं । जिनकी चेष्टाये व्यक्तिगत होती है वे भी इस भाव के अन्तर्गत इसी बहुत्व के भाव का प्रतिपादन करते है, क्योकि एक भी ऐसा व्यक्ति मिलना कठिन है जिसकी आकृति और प्रकृति किसी दूसरे व्यक्ति की आकृति या प्रकृति से मिलती-जुलती हो । जुड़वॉ भाइयो की आकृति यद्यपि देखने मे एक होती है तथापि उनकी प्रकृति मे वही समानता दृष्टिगोचर नही होती । लीलामय भगवान की लीला की भित्ति विचित्र और विषम है । वह इस तरह को विषमता। जानबूझ कर रखते है, नही तो उनकी लीला ही न चले । यही कारण है कि स्वभावजनित गुण और बहिर्गत तथा आन्तरिक भेद-भाव के कारण व्यक्तिगत, सम्प्रदायगत जातिगत तथा राष्ट्रगत विचित्रता और विपमताओं के बीच भी एक तरह की समता या एकत्व है । यह होना भी ठीक या स्वाभाविक ही है, क्योकि जो इतने विविध रूपो से प्रकट होता है वह है अद्वितीय । प्राकृतिक धर्म, शिक्षा, दीक्षा, आकाश, वायु, जल, स्थानीय अनेक प्रकार के दृश्य, स्पृश्य खाद्यादि के प्रभाव से भिन्न-भिन्न देशो मे उसकी शक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से काम कर रही है

और उसके अनुसार लोगो के आचार, विचार, स्वभाव, संस्थिति, शील, व्यवहार, रीति-नीति में विभिन्नता देखने मे आती है। पर फिर भी उन सब विभिन्नताओ मे एक प्रकार की एकता है; क्योंकि सबकी चेष्टा उसी सच्चिदानन्द की प्रतिष्ठा है। जिस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार के बाजे (जैसे, हारमोनियम, तबला, मजीरा, सितार) एकसाथ मिलकर एक ही प्रकार की संगीतध्वनि निकालने के लिए तत्पर रहते है उसी प्रकार असंख्य प्राणियो की भिन्न-भिन्न शक्ति के संचालन का एकमात्र अभिप्राय सच्चिदानन्द परमेश्वर की प्रतिष्ठा की स्थापना है। जिस प्रकार व्यक्तिगत, सम्प्रदायगत, जातिगत, कायिक, वाचिक, मानसिक भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टायें और भावनायें है, उसी प्रकार ये सब उसी मूल तत्त्व की प्रतिष्ठा के हेतु एक-दूसरे के अभाव की पूर्ति करते है। ये भी उसी महान् गृहस्थ की चेष्टायें है कि उस प्रभूत गृहस्थी के संचालन के लिए हम अगण्य जीव और अगण्य उपकरणो का संग्रह करते है। जो हमारे पास नही है उसका साधन तुम संग्रह कर देते हो और जिसका तुम्हे अभाव है उसका हम संग्रह कर देते है। जो इस देश मे नही पैदा होता वह अन्य देशो से आ जाता है और जो अन्य देशो मे नहीं उत्पन्न होता वह इस देश से चला जाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न देशो और व्यक्तियो की सहायता से सभ्यता की उन्नति की धारा बहती है। एशिया और यूरोप की धारा एक नही है, भारत और इंगलैण्ड की धारा एक नहीं है, तथा एक देश के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो मे भी अभाव दृष्टिगोचर होता है, पर यह विभेद अभाव की पूर्ति तुम्हारे द्वारा कर लेते है और इसी प्रकार एक देश अपने अभावो की पूर्ति दूसरे

देश द्वारा करता है। इस अभाव की पूर्ति जिस प्रकार सर्वोत्तम हो सकती है वही गठित होता है और सम्पूर्ण उत्तम साधनों का एक ही उद्गम स्थान है, वही एक प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य है और लोक-संग्रह उसीके अपेक्षित है।

इस लोक-संग्रह के काम मे प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ देता ही है। इस मे छोटे-बड़े का भेद नहीं है। सभी इस महायज्ञ के ऋत्विज है। इस यज्ञ मे हरेक को कुछ-न-कुछ हवन करना पडता है, चाहे वह राजा हो या रंक, ब्राह्मण हो या चाण्डाल, अंग्रेज हो या फ्रासीसी। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक जाति का इस संसार मे कुछ न कुछ कर्तव्य है। ईश्वर ने किसीको बेकार नही बनाया। एक परमाणु का जन्म भी निष्प्रयोजन नही है। इस पृथ्वीतल का कोई जीव या कोई व्यक्ति निरर्थक नहीं है। लोग प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि पत्थरो मे से हीरा निकल रहा है। विज्ञान-शास्त्र मिट्टी और धूल मे से उत्तम उत्तम रत्न निकाल रहा है। मानव-संसार मे हम लोग जिसे हीन और नगण्य समझते है उसीने इस महायज्ञ मे क्या आहुति दी है उसे हम लोग नही जानते। ग्रारीसाल मे गोपाल मेहतर नाम का एक व्यक्ति रहता था। कर्तव्यनिष्ठ वह इतना था कि हम लोग उसे अपना गुरु मानते थे। यदि इसकी साधारण वृत्ति पर ही ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा कि यह भी कोई साधारण बात नही है। सुना है कि जिस समय हमारे गुरुदेव पूज्यपाद स्वामी विजयकृष्णदेव जी कही जाते तो प्रस्थान के समय सदा मेहतरानी को बुलाते और उसे कुछ इनाम देकर प्रणाम करते और कहते, "माँ! तुम जननी की भाँति मल-मूत्र साफ करके हम लोगो का जो

उपकार करती हो, उसका प्रतिफल देना तो असम्भव है। हम लोग तुम्हारे सदा के ऋणी हैं और आजन्म ऋणी रहेंगे।" हम लोग तो सदा उन्हे हेय और नीच समझते है, उनके कार्य की महत्ता की कभी गणना ही नही करते। यदि विचारपूर्वक देखे तो विदित होगा कि इन मेहतर और मेहतरानियों का काम स्वकीया जननी के उस काम से कम नहीं है जो वह बाल्यावस्था मे करती है। माता जिस भाँति बाल्यावस्था मे हमारा मल सूत्र साफ़ करके परिच्छन्न रखती है उसी प्रकार ये जवानी और बुढ़ापे मे हमारे मल-मूत्र को साफ़ करके हमसे गन्दगी दूर रखते है और सफाई करके स्वास्थ्य-वृद्धि का साधन प्रस्तुत करते है। यदि उसको (मेहतर को) इस बात का ज्ञान हो जाय कि ईश्वर ने उसे इसीलिए उत्पन्न किया है कि वह अपने कर्तव्य-पालन से संसार के सुख और स्वास्थ्य का संवर्धन करे तो वह अपनी हीन वृत्ति को घृणा की दृष्टि से न देखे, बल्कि अतिशय प्रसन्न होकर उसका सम्पादन करे। और यदि हम लोग भी उसके कार्य को इसी दृष्टि से देखते तो हम भी गोस्वामी विजयकृष्ण जी की भाँति उसके चिरकृतज्ञ रहते। यदि बढ़ई विचारपूर्वक अपने काम की आलोचना करे तो उसे मालूम होगा कि उसका कार्य कितना महत्वपूर्ण है। प्रत्येक दिन उसे पचासों प्राणियों के भरण-पोषण के लिए भोजनादि सामग्री के पकाने के लिए साधन प्रस्तुत करने पड़ते है। यदि वह स्मरण करे कि भगवान् ने उसके हाथ मे कितना भारी और महत्वपूर्ण काम दे रक्खा है तो दुःख न करके वह अत्यन्त आह्लादित होगा और उसे प्रतीत होगा कि उसके औजार के प्रत्येक आघात से अमृत की वर्षा हो रही है और

यदि हम लोग भी उसके कार्य को इसी दृष्टि से देखे तो हमे भी प्रतीत होगा कि उसके शरीर के पसीने का प्रत्येक बूंद मोतियो के दाने है। दोपहर की कडी धूप मे गलने और झुलसने वाला किसान यदि इस बात का स्मरण करता कि विधाता ने उसे किस महत्वशाली कार्य का भार सौपा है, कितने आदमियो के भरण-पोषण की जिम्मेदारी उनके सिर पर है, तो वह अपने इस कड़े परिश्रम को ग्लानिपूर्वक कभी भी नही देखता। यदि हम लोग भी उसकी खेती-बाडी को इसी श्रद्धापूर्ण-दृष्टि से देखते तो उससे और भी अधिक स्नेह करते और उसके कार्य के गुरुत्व की महिमा पूर्ण रूप से समझ सकते।

पर जिन मेहतरो, बढइयो और किसानों ने अपने इस कर्तव्य के मर्म को समझ लिया है उन्हे अपने भोजन-वस्त्र की कोई चिन्ता नही रहती, परिवार-पोषण की चिन्ता उन्हे उद्विग्न नही कर सकती, वे समझ लेते है कि विधाता ने उनका सारा प्रबन्ध कर दिया है, हमे केवल उसकी आज्ञाओ का पालन करना है, और उसीके अनुसार चलना है। यह स्मरण करके कि विधाता ने इस महत् सृष्टि के भरण-पोषण का किञ्चित् भार उसके ऊपर भी रख दिया है, वह मन ही मन पुलकित होता। वह अनेक प्रकार की चिन्ताओ मे अपना शरीर नही जलाता, वह अपनेको नीच नही समझता। वह विष्णु को प्रसन्न करने के हेतु अपना सारा काम करता जाता है। संसार के कल्याण के लिए वह अपनी शक्तियो का उपयोग करता जाता है। वह समझता है कि यदि लोग हमे नीच समझते है तो इसमे हमारी कोई हीनता नही है; क्योकि भगवान की दृष्टि मे तो उसकी प्रतिष्ठा है। अपनी

लीला को सुचारु-रूप से चरितार्थ करने के लिए उन्होंने उसे भी बुलाकर अपने साथ कर लिया है। इन भावनाओं से वह अतिशय प्रफुल्लित होकर रैदास भगत की भांति गाता है :—

सुरसरिसलिलकृत वारुणीरे
सन्तजन करत नाहि पानम्।
सुरा अपवित्र न त अवर जलरे
सुरसरि मिलत नाहि होहि आनम्॥

कितने सरल और मर्मभरे शब्द हैं! साधुजन गङ्गा-जल से बने मद्य को भी नही पी सकते। यदि कहां सुरा पवित्र गङ्गा-जल मे गिर जाय तो वह अपवित्र नहीं रह जाती और उसका दूसरा नाम भी नही रह जाता। उलटे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है।

सुविख्यात संन्यासी सन्त अएटानी ने इस तरह की वार्त्ता किसी चमार भक्त के बारे मे सुनी थी। अनन्तकाल तक तपस्या करने पर अएटानी को आकाशवाणी हुई कि अलेकजैण्डि्या (अफ्रिका) नगर मे एक चमार रहता है, वह भक्तों का राजा है। इस देववाणी को सुनते ही वह अपने स्थान से उठे और अति शीघ्रता के साथ उसके श्रीचरणों के दर्शन के लिए चले। उन्होंने उसके पास पहुँचकर देखा कि वह भगवान मे लिप्त अपनी जीविका को अनवरत रूप से चला रहा है और अपनेको सबका दास तथा सबसे हीन समझता है। उसको किसी कठिन तपस्या के आचरण की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उसने अपने कर्म का केन्द्र भगवान को ही मान लिया है। इतने से ही

उसकी वासनाओ का वन्धन छिन्न-भिन्न हो चुका है और इस प्रकार वह उच्च अधिकार प्राप्त हो गया है ।

इसी तरह का एक और भी वृत्तान्त है। एक साधु ने ४० वर्ष तक अनवरत तपस्या की। उसके बाद देववाणी हुई कि समीप के एक ग्राम मे एक नीच जाति का मनुष्य रहता है जो उनकी अपेक्षा कही ऊँचे दर्जे पर पहुँचा है। इस प्रकार देववाणी सुन कर उनके हृदय मे उसके दर्शन की उत्कट अभिलाषा उठी और वे उस ग्राम मे गये। वहाँ पहुँच कर उन्होने देखा कि एक स्थान पर भारी भीड़ जुटी है, लोग एक नट का तमाशा देख रहे हैं और खूब गुल-गपाडा मचा रहे है। उन्होने उस फ़कीर का पता लगाया तो मालूम हुआ कि वह यही नट है। तमाशा समाप्त होने के बाद वे महात्मा चुपचाप उसके पीछे हो लिए और अतिशय एकान्त स्थान मे पहुँच कर उससे पूछा—"आपने कौन सी ऐसी कठिन तपस्या की है अथवा महान अनुष्ठान किया है, जिससे भगवान की आप पर इतनी कृपा हो गई है?" उनकी वाते सुनकर वह अवाक् हो गया। उसने कहा—'मैने तो जानने योग्य किसी तरह की तपस्या या अनुष्ठान नहीं किया है" पर सन्यासी उसे सहज मे ही छोडने वाले नही थे। वे अनुनय-विनय करते ही रहे। अन्ततोगत्वा लाचार हो कर उस नट ने कहा—"हाँ, मुझे स्मरण आता है कि मैने एक दिन एक कार्य किया था। वह कार्य यद्यपि खराव नही था तो वहुत अच्छा भी नही था।" साधु ने उस कार्य का विवरण सुनना चाहा। तद्नुसार उस नट ने कहा—"एक दिन की वात है कि मै अपने गिरोह को लेकर तमाशा करने जा रहा था। मार्ग मे मैने एक

स्त्री को देखा जो घूंघट काढ़ कर भीख मांग रही थी। पता लगाया तो मुझे मालूम हुआ कि उसका पति ऋण के बोझ से दबकर जेल मे कैद भुगत रहा है। इस स्त्री के निर्वाह का कोई दूसरा मार्ग नहीं रह गया है, इसलिए लाचार होकर बेचारी भीख मांग कर ही गुज़र कर रही है। कुछ दिन पहिले की बात है कि मैंने तमाशा दिखा कर उसी के घर से कुछ पैदा किया था। इस समय उसके दुःख को घटाने की मुझ मे प्रबल उत्कंठा उत्पन्न हो उठी। मैंने उससे उसके पति के कर्ज की रकम का पता लगाया। मालूम हुआ कि पॉच सौ रुपया है। मै सीधा घर आया। अपनी स्वर्गीय पत्नी के गहने मैंने सन्दूक से निकाले और उन्हे बेचा। पर उससे दो सौ से अधिक न मिले। मै बड़े संकट मे पड़ गया। निदान मैंने अपनी मण्डली का साज बेच कर शेष रुपयो का प्रबन्ध कर लेना चाहा। इस प्रकार मैंने उस स्त्री के पति का कर्ज़ चुकाया और उसे छुड़ाया। इसमे कोई उल्लेख करने योग्य महत्व की बात नहीं है।" उस समय साधु को विदित हुआ कि इस नट का कार्यक्षेत्र क्या है और किस कारण इसने भगवान के चरणों मे स्थान पाया है इसने अपना संकीर्ण स्वार्थ त्याग करके संसार के लाभ की कामना से कार्य किया है और यही कारण है कि यह इतने ऊँचे पद तक पहुँच गया है।

हमने पहले कहा है कि इस क्षेत्र मे हीन कोई नहीं है। महाभारत की शक्तुप्रस्थ यज्ञ की कथा इस कथन का प्रमाण है। धर्मराज युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ शक्तुप्रस्थ यज्ञ से कहीं हीन समझा गया था। युधिष्ठिर-कृत अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति हो ही रही थी कि एक विचित्र प्रकार का नेवला, जिसका सिर और आधा

शरीर सोने का था, आ कर यज्ञ की वस्तुओ को भ्रष्ट करने लगा। उसने कहा—'यह अश्वमेध यज्ञ शक्तुप्रस्थ यज्ञ की तुलना मे कहीं हीन है।" नेवले की यह बात सुन कर उपस्थित मण्डली विस्मित हो गई और इस नेवले से इस हीनता का कारण पूछने लगी। नेवले ने कहा—"कुरुक्षेत्र मे एक ब्राह्मण रहता था। उसकी जीविका का एकमात्र अवलम्ब भिक्षा-वृत्ति था। घर मे आप, पत्नी, पुत्र और पुत्र-वधू चार प्राणी थे। दिन के छठे भाग मे भीख माँग कर जो कुछ संग्रह कर सकते उसी से अपना पेट पालते। कोई-कोई दिन उपवास मे भी बीत जाता था। एक समय भीषण अकाल पडा। उस समय बेचारे ब्राह्मण के ऊपर तो और भी नयी विपत्ति आ गिरी। इस अकाल मे भिक्षा मिलना दुर्लभ हो गया। अब फाको की बात ही पूछना व्यर्थ था। फाके पर फाके होते थे। एक दिन ब्राह्मण ने भीख माँग कर जो कुछ संग्रह किया उससे सत्तू तैयार कराया। सत्तू केवल इतना ही था कि सारे परिवार के पेट की ज्वाला एक बार किसी तरह शान्त हो सकती थी। निदान सत्तू को चार भागो मे बाँटा गया और ब्राह्मण, ब्राह्मणी, पुत्र तथा पतोहू चारो अपना अपना भाग लेकर भोजन करने बैठे। सत्तू सान कर मुंह मे डाला भी नहीं था कि एक अतिथि मेहमान) आकर उपस्थित हो गया। ब्राह्मण अपने आसन से उठ बठा और उसके आदर सत्कार मे लग गया। अतिथि के योग्य अर्घ आदि प्रदान करने के बाद ब्राह्मण ने अपने अंश को अतिथि के सामने ला कर उपस्थित किया। अतिथि उतना सत्तू खा गया, पर उतने से उसकी क्षुधा न मिटी। अतिथि को भूखा रखना पाप समझ कर

ब्राह्मणी ने अपना अंश भी उस अतिथि के सामने ला रक्खा। अतिथि उसे भी खा गया, पर उसकी भूख न मिटी। यह देख कर ब्राह्मण के लड़के ने भी अपना हिस्सा लाकर उसके सामने रख दिया। पर उससे भी अतिथि की क्षुधा न बुझी। अन्त मे ब्राह्मण की पुत्र-वधू ने भी अपना हिस्सा उसे दे दिया। इतना सत्तू खाने के बाद अतिथि की क्षुधा शान्त हुई। उस भूखे ब्राह्मण परिवार को वह रात भी उसी तरह निराहार काटनी पड़ी। इस अपूर्व उदारता का परिणाम यह हुआ कि उस ब्राह्मण के कुल की विष्णु-लोक तक मे प्रशंसा होने लगी और उसी अपूर्व त्याग के प्रभाव से वह ब्राह्मण स्वर्ग का अधिकारी बन गया। अचानक मैं वहाँ पहुंच गया और सत्तू का जो कुछ उच्छिष्ट भाग जमीन पर गिरा था उसी पर लोटने लगा। देखते-देखते मेरा सर और आधा धड़ सोने का हो गया। आधे बचे हुए धड़ को भी सोने का बनाने की अभिलाषा से मै तपोवनो मे और यज्ञशालाओ मे घूमा किया, पर मुझे हर स्थान से निराश हो कर ही लौटना पड़ा। अन्त मे मै यहां आया कि कदाचित् महाराज युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ की पवित्र सामग्रियो के स्पर्श से मेरी मनोकामना सिद्ध हो। पर यहाँ से भी मुझे निराश ही होना पड़ा। लाचार हो कर मुझे इसी परिणाम पर पहुँचना पड़ा कि महाराज युधिष्ठिर का यह धर्म-यज्ञ भी उस गरीब ब्राह्मण के सत्तू-दानरूपी यज्ञ की तुलना नहीं कर सकता।"

कोई भी कार्य शुद्ध है या अशुद्ध, छोटा है या बड़ा साधारण है या महान्, इन बातो की विवेचना और निर्णय केवल उस कार्य को सम्पादित करने वाले की योग्यता और स्थिति देख

कर ही किया जा सकता है। सत्तू का दान बहुत ही साधारण बात थी। अश्वमेध यज्ञ के दान की तुलना मे वह कुछ भी नहीं है, पर दान करने वाले व्यक्तियों का स्मरण करने से वह सत्तू का दान इस अश्वमेध यज्ञ के दान से कहीं महत्वशाली प्रतीत होने लगता है और इसीलिए उसकी तुलना मे महाराज युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ अति हीन हो गया।

हिन्दी मे एक कहावत है—"जैसे सत्तर वैसे अस्सी।" इस कहावत का अत्युत्तम उदाहरण यहाँ पर दृश्यमान है। किसी नगर मे एक ब्राह्मण रहता था। उसकी जीविका का एकमात्र उपाय चोरी था। इस वृत्ति मे रह कर उसने ५२ नर-हत्या की थीं। इतनी नर-हत्या के बाद उसके हृदय मे ग्लानि उत्पन्न हुई और उसे अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा। उसके मन की वेदना इतनी प्रबल हो उठी कि वह एक सन्यासी के पास गया और अपनी हीन वृत्ति की चर्चा करके पूछने लगा—"महाराज, किसी उपाय से इस घोर पाप से मेरा भी उद्धार हो सकता है?" उसकी आत्म-कहानी सुन कर सन्यासी ने उसके हाथ मे एक काले रंग की पताका दी और कहा 'तुम चोरी के पेशे का त्याग करके इस पताका को अपने हाथ मे लेकर देश-विदेश भ्रमण करो। जिस दिन यह पताका अपना रंग बदल देगी और श्याम रंग से सफेद रंग की हो जायगी, उस दिन समझना कि तुम्हारा पाप भी छूट गया और तुम उससे मुक्त हो गये।" ब्राह्मण को जन्म भर का अभ्यास था। इससे कमर मे तलवार लटका कर वह पताका लेकर देश-विदेश, जंगल और बस्तियों मे घूमने लगा। सदा उसे इस बात की चिन्ता जलाती रही कि वह दिन कब आवेगा जब

वह इस घोर पाप से मुक्त होगा। एक दिन की बात है कि वह किसी एकान्त स्थान से भ्रमण करता चला जा रहा था कि उसने देखा कि एक लम्पट नराधम किसी स्त्री की मर्यादा बिगाड़ने के हेतु उस पर आक्रमण करने जा रहा है और बेचारी सुन्दरी मारे भय के भाग रही है। इस कृत्य को देख कर ब्राह्मण ने ऊँचे स्वर से आवाज दी कि अरे नर-पिशाच! रुक जा! रुक जा! और आगे कदम उठाने की धृष्टता न कर! पर वह दुष्ट कब माननेवाला था? वह उसी तरह चलता गया और उस युवती के पास पहुँच कर उस पर आक्रमण कर ही बैठा। ब्राह्मण भी अति वेग से वहाँ पर जा पहुँचा, पर उस युवती के उद्धार का अन्य कोई मार्ग न देख कर उसने एक बार चिल्ला कर कहा "जैसे सत्तर वैसे अस्सी" और कमर से तलवार निकाल कर उस चाण्डाल के गले पर इतने जोर से मारी कि उसका सिर धड से अलग हो गया और उसकी गर्दन से रक्त की धारा फौवारे की तरह निकल कर बहने लगी। ब्राह्मण ने अपनी गर्दन उठाई और धारा-प्रवाह देखने लगा। उसने विस्मित हो कर देखा कि उसी रक्त की धारा के प्रवाह के साथ उसकी पताका भी अपना रंग बदलती चली जा रही है और नीले से सफेद होती जा रही है। इसी निःस्वार्थ कार्य से स्वर्ग मे उसका जय-जयकार मचने लगा और चोरी तथा नर-हत्या-जनित घोर पाप से उसकी मुक्ति हो गई।

जिस आधार का अवलम्बन कर के उस ब्राह्मण ने इस मनुष्य की हत्या की थी, उसी आधार के अनुसार भगवान् कृष्ण-चन्द्र ने महामति अर्जुन को युद्ध करने के लिए आदेश किया था। भगवान् ने पहले अन्य उपायों द्वारा ही दुर्योधन को इस पाप कर्म

से दूर करने का यत्न किया था। पर जब वे सफल मनोरथ न हुए तो लाचार हो कर उन्हे इसी मार्ग का अनुसरण करना पड़ा और उन्होंने अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रेरित किया। इस युद्ध मे पाण्डवों का कोई स्वार्थ नही था। यह युद्ध पाप को उठा कर वसुन्धरा का बोझ हलका करने के लिए किया गया था। यह धर्म-युद्ध था और संसार के कल्याण के लिए किया गया था।

इसीको आधार मान कर जो कार्य किया जाय, उससे लोक के कल्याण की सम्भावना रहती है और इस आधार के अतिरिक्त जितने आधार है, सब मे लोक की हानि की सम्भावना है। जो व्यक्ति, जो जाति, जो समाज, जो राष्ट्र इस आधार को सामने रख कर और अपना लक्ष्य बना कर काम करते हैं, वे धन्य हैं। इङ्गलैण्ड ने गुलामी की प्रथा दूर करने मे इसी प्रथा का अवलम्बन किया था। अमेरिका वालो ने अधीनस्थ जाति फिलीपाइन प्रदेश वालो को स्वतन्त्र कर देने का जो निश्चय किया था उसका भी आधार यही था। इसी आधार को अपने सामने रख कर, अपना लक्ष्य बना कर, जो जाति अपने देश या राष्ट्र का कार्य सुसम्पन्न करती है, वही राष्ट्र और जाति धन्य है, वही सच्चे और प्रकृत मार्ग का अनुसरण करने वाली है और वही सच्चा देश का कल्याण करती है। "सर्वभूत हितेरताः" अर्थात् संसार के सभी प्राणियो के कल्याण मे सदा तत्पर रहने को ही लोक-संग्रह कहते हैं। विना इस भाव के हृदय मे व्याप्त हुए सच्चा लोक-संग्रह नहीं हो सकता। ऊपर से लोक-संग्रह की दुन्दुभी बजाकर, भीतर निजी स्वार्थ की भीषण माया मे पड़े रहने का क्या फल होता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान योरप है।

रणचण्डी जो भीषण रूप धारण करके समस्त योरप मे नाच रही है, और अपने भीषण ताण्डव के अन्तर्गत समस्त विश्व को कवलित कर जाना चाहती है, उसका कारण यही स्वार्थान्धता है। जो जाति किसी अन्य कमजोर जाति की श्रीवृद्धि नही देख सकती, दूसरे की बढ़ती देख कर जिस जाति के मुँह मे तुरन्त पानी आ जाता है, जो जाति दूसरी जाति की शक्ति को बलात् अपने वश मे करके उसको अपने मन के अनुसार संचालन करना चाहती है अथवा अपनी शक्ति से उसे बलात् मिला कर अपनी शक्ति की प्रतिष्ठा कराना चाहती है, वह जाति समस्त संसार की शत्रु है और उसे अपने पापों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा। प्रकृति में सब का एक ही बीजाधार होने पर भी संसार के प्रत्येक प्राणी, समाज, सम्प्रदाय और राष्ट्र का व्यक्तित्व भिन्न है और उसी आधार पर उनका धर्म भी भिन्न है और उस धर्म के अनुसार प्रत्येक की जीवन-धारा भिन्न-भिन्न सोतों से बही है, यद्यपि अन्त में सभी उसी एक अति विस्तृत-सागर मे जा कर मिली हैं। इस स्वधर्म मे प्रत्येक दूसरे से जबरदस्त है। दूसरी तरफ चाहे जो कुछ भी त्रुटि हो, पर इस स्थल मे सब ही शक्ति-सम्पन्न हैं। साधारणतया यह बात देखने मे आती है कि यदि किसी मनुष्य का एक अवयव कमजोर या दुर्बल रहता है तो उसी हिसाब से उसका दूसरा अवयव मजबूत और पुष्ट रहता है, जैसे गूंगे और बहिरे की देखने की शक्ति बड़ी तेज होती है, अंधे की छू कर पहचानने की शक्ति तीव्र होती है, इसी प्रकार यहाँ भी जिसमे जो अभाव रहता है, उस त्रुटि की पूर्ति के लिए प्रत्येक राष्ट्र या जाति की स्वाभाविक-शक्ति अथवा स्वधर्म-शक्ति का

सञ्चालन होता रहता है और वह वृद्धि पाती जाती है । इसी प्रसङ्ग को लेकर इमर्सन ने लिखा है:—

"Only by obedienee to his genius' only by the freest activity in the way constitutional to him, does an angel seem to arise before a man and lead him by the hand out of all the wards of the prison"

प्रत्येक आदमी के अन्दर कुछ न कुछ विशेषता होती है । अगर आदमी अपनी उसी विशेषता के अनुसार, उसी दिशा मे लग जाय तो उसे थोडे ही समय मे ज्ञात होगा कि एक दिव्य मूर्ति उसके सामने उपस्थित हो कर कारागार से उसे निकाल कर बाहर खीच रही है अर्थात् उसके सारे बन्धनो को काट कर उसे मुक्त कर रही है । यह उक्ति सब के लिए समान है, चाहे वह कोई व्यक्ति विशेष हो, राष्ट्र हो, जाति हो, समाज या संप्रदाय हो । जो जाति अपने धर्म का त्याग करके दूसरो का धर्म स्वीकार करने की चेष्टा करती है, या दूसरो से अपना धर्म छुड़ा कर दूसरे धर्म मे दीक्षित करने की चेष्टा करती है, वह जाति महा अभागी है । संसार के कल्याण की कामना से प्रेरित होकर, अपने प्राकृत धर्म के अनुसार ही चल कर और अपने मे जो कुछ हीनता या कमी दिखाई दे उसीकी पूर्ति अन्य स्थान से कर लेना या यदि दूसरो मे किसी तरह का अभाव या हीनता दिखाई दे तो उसे पूर्ण कर देने की चेष्टा करना,इसीको लोक-संग्रह का सच्चा मार्ग कहते है । भिन्न-भिन्न मार्गो के द्वारा यात्रा करके अर्थात् भिन्न-भिन्न मार्गो का अनुसरण करके उसी सच्चिदानन्दकी प्राप्ति को ही लक्ष्य मे रख कर यात्रा करना सच्चा लोक-संग्रह है ।

कर्मयोगी के लक्षण

जो मनुष्य संसार के कल्याण के लिये काम करता है, वही सच्चा कर्मयोगी है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता मे ऐसे कर्मयोगी के लक्षण बताये हैं:—

> मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
> सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते ॥

अर्थात् जो मनुष्य आसक्ति से रहित है अर्थात् जिसे संसार की किसी भी वस्तु से मोह नहीं है, न जिसे 'अहम्' का निरर्थक अभिमान है, जिसके हृदय मे असीम धैर्य और उत्साह भरा पड़ा है, और जो सिद्धि तथा असिद्धि के लिए सदा निरपेक्ष रहता है, अर्थात् न तो उसे लाभ से अतिशय सुख होता है और न हानि से दुःख। केवल ऐसा ही मनुष्य कर्मयोगी है और उसको सात्विक कर्ता कहते है ।

मुक्तसंग

जिस मनुष्य को संसार की आकर्षक वस्तुएँ अपनी ओर खींच नहीं सकतीं, वह मनुष्य बन्धन-मुक्त है, स्वस्थ है, स्वाधीन है। जब मनुष्य का किसी वस्तु की तरफ खिचाव नही रहता तो फिर उसे किसी बात की परवा क्यों होने लगी ? ऐसे ही लोगो के विषय मे भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता मे अर्जुन से कहा है:—

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्माप्रसादमधिगच्छति ॥

अर्थात् जो मनुष्य राग अर्थात् प्रेम और स्नेह के बन्धन तथा क्रोध से बरी है, अपनी इन्द्रियों को अपने वश मे करने के बाद संसार के विषयों का उपभोग करता है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है और अपने पर पूरा अधिकार कर लिया है, वही प्रसाद लाभ करता है—अर्थात् इस अवस्था को प्राप्त मनुष्य संशय के द्वन्द्व मे कभी भी नहीं पडते, सदा-सर्वदा और सभी अवस्था मे प्रसन्नचित्त रहते है। ऐसे ही पुरुषों को लक्ष्य करके भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है:—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

अर्थात् जिस मनुष्य को प्रसाद की प्राप्ति हो गई है, उसके सम्पूर्ण दुःखों का नाश अवश्य ही हो जायगा। जो मनुष्य इस प्रकार परम आनन्द की प्राप्ति करता है उसकी बुद्धि अति शीघ्र आत्म-स्वरूप मे प्रतिष्ठित होती है। जनक आदि बड़े-बड़े महात्मा-ओं ने इसी प्रणाली का अनुसरण कर कार्य किया था और सिद्धि लाभ की थी। गीता मे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा भी है:—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

अर्थात् निष्काम कर्मयोग के अनुसार ही कर्म करके राजा जनक आदि महात्माओं को सिद्धि मिली थी।

उपर्युक्त प्रकार के प्रसाद के प्रभाव से बुद्धि आत्मा मे प्रतिष्ठित हो गई थी। यह जान कर ही महाभारत के शान्तिपर्व मे महात्मा जनक ने कहा था:—

अनन्तम् बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदग्धायां न मे दह्यति किंचन ।।

अर्थात् हमारी सम्पत्ति और विभूति का अन्त नहीं है पर मेरा कुछ भी नही है। यहां तक कि यदि अग्निदेव के कोप से आज मिथिला दश जल कर भस्म भी हो जाय तो इससे मुझे किसी तरह की हानि नहीं हो सकती। इसी प्रसंग को लेकर योगवाशिष्ठ मे महर्षि वशिष्ठ ने कहा है:—

सुषुप्तावस्थितस्येव जनकस्य महीपतेः ।
भावनाः सर्वभावेभ्य सर्वथैवास्तमागताः ॥

अर्थात् महाराज जनक सदा सुषुप्तावस्था मे रहे, अर्थात् संसार का कार्य संचालन करते हुए भी वे संसार के मोहबन्धनो से मुक्त थे, सुख-दुःख उनके लिए बराबर था, हानि-लाभ उनके लिये एक-सा था, इसलिए संसार की वस्तुओं मे मनुष्य की जो आसक्ति होती है, वह उनसे कोसों दूर थी अर्थात् उसका उनपर प्रभाव ही नही पड़ सका था। इस अवस्था मे आकर —

भविष्यं नानुसंधत्ते नातीतं चिन्तयत्यसौ ।
वर्तमाननिमेषस्तु हसन्नेवाभिवर्त्तते ॥

न तो उन्हे भविष्य की चिन्ता थी और न भूत का अनुभव उन्हे विह्वल कर सकता था अर्थात् पिछले किये हुए कर्मो के कुपरिणाम के ज्ञान से न तो वे कभी व्याकुल होते थे और न उनके अनुसार गणना करके वे कभी इस बात से चिन्तित होते थे कि कहीं भविष्य मे भी किसी तरह की खराबी न हो जाय। उनका एकमात्र लक्ष्य वर्तमान पर रहता था। अर्थात् वर्तमान समय में

जो कुछ सामने आता था और जिसे वे करणीय समझते थे उसका आचरण हँसते-हँसते प्रसन्न-चित्त किया करते थे। अर्थात् सदा और सर्वदा वे प्रसन्नचित्त रहते थे, कभी विह्वल या व्याकुल नहीं होते थे। जो इस पद को प्राप्त होना चाहते है, उन्ही को लक्ष्य कर के महाकवि लागफेलो ने लिखा है:—

'Trust no future, however pleasant,
Let the dead past bury its dead;
Act, act in the living Present,
Heart within and God o'erhead"

अर्थात् चाहे भविष्य कितना ही सुन्दर और आशाप्रद क्यो न प्रतीत होता हो, उसपर भरोसा मत रक्खो। और जो बाते बीत गई, उनकी भी परवा मत करो, उन्हे भूतकाल के अनन्त उदर मे विलीन हो जाने दो। केवल वर्तमान को अपने दृष्टि-पथ पर रख कर, अनवरत रूप से, निरन्तर काम करते रहो, और केवल ईश्वर तथा अपने साहस पर भरोसा रक्खो।

जिस मनुष्य को संसार के किसी भी पदार्थ से आकर्षण नही रह जाता, और जिसे संसार की कोई भी वस्तु अपनी ओर खीच नही सकती, उसी मनुष्य को राग-द्वेष से मुक्त कह सकते है और उसी मनुष्य के लिए कहा गया है—'दुखेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह वीतरागभयक्रोध:' अर्थात् राग-द्वेष से जो मनुष्य मुक्त हो गया है वह विपत्तियो के आ पड़ने पर कभी-भी नही घबराता, अर्थात् पूर्ण धीरता और साहस के साथ वह विपत्तियो को सहता है और यदि सुख, आनन्द या प्रसन्नता की कोई बात आ पड़ी तो वह आनन्द से विह्वल नही हो जाता। न

तो उसे किसी वस्तु-विशेष से प्रेम रहताहै,ि क नस से वह डरता है और न उसमें क्रोध रह जाता है।

ऐसे ही मनुष्य को उदार कहते है। उनके लिए किसी सम्प्रदाय विशेष का बन्धन नहीं है और यदि बाहर किसी सम्प्रदाय विशेष के अंगभूत हो भी गये तो उनके हृदय मे किसी तरह का द्वेष भाव नही रहता। वास्तव मे वे कभी सम्प्रदायी नही रहते। बन्धन से मुक्त हो कर उस ग्रन्थि के बाहर आ कर वे देखते है कि:—

"भिन्न भिन्न मत भिन्न भिन्न पथ।
किन्तु एक गम्य स्थान"

अर्थात् इस संसार मे अनेक तरह के मत और सम्प्रदाय प्रचलित हैं और प्रत्येक सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न मार्गों की ओर ले जाना चाहता है, पर सबका लक्ष्य एक ही है, अर्थात् सबको एक ही स्थान पर पहुँचना है, चाहे वह किसी भी मार्ग का अनुसरण क्यों न करे।

प्रकृति की लीला का अनवरत निरीक्षण करने से उस बहुत्व मे एकत्व का ज्ञान होता है। कठोपनिषद् मे कहा है:—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातनः।

अर्थात् उसे दिखाई देता है कि ब्रह्माण्डमय विश्व एक अश्वत्थ का वृक्ष है जिसकी जड तो ऊपर को है और शाखाएं नीचे की तरफ फैली हुई है। ये शाखाएं अपरिमित है, पर इन सब मे एक ही लीलामय की लीला-क्रीडा होती रहती है। पर इस लीला के अन्तर्गत काम करने वाले प्रत्येक पात्रो को कुछ-न-कुछ अलग

अलग करना है। इसलिए कहा भी है:—भिन्नरुचिर्हिलोक: ।"
संसार के प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न है। जिस व्यक्तित्व का नाश लाख चेष्टा करने पर भी नही हो सकता, उस व्यक्तित्व का सम्मान द्वेष और पक्षपात रहित मनुष्य जितनी उदारता और श्रद्धा से कर सकता है अन्य कोई नही कर सकता। मुक्तसङ्ग मनुष्य को विदित होता है:

"God fulfils Himself in many ways."

भगवान् अनेक रूप धारण करके व्यक्त होते है और अपने व्यक्तित्व का सम्पादन करते है। वे सर्वव्यापी है, इसलिए उनके तत्वपूर्ति के मार्ग भी अनेक है। इसी अवस्था को दृष्टि-पथ मे रख कर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था:—

> ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
> मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

हे अर्जुन! जो मनुष्य जिस भाव से मेरा भजन करता है, उसी भावगम्य रूप को ग्रहण करके मै उसके पास उपस्थित होता हूँ। मनुष्य हर तरह से मेरा ही पथगामी होता है। इसी भाव को लेकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है:—

> जाकी रही भावना जैसी, प्रभुमूरति देखी तिन तैसी।

इस मर्म को हृदयङ्गम करके ही मुक्तसङ्ग प्राणी सब के प्रति असीम उदारता का भाव धारण करते है, क्योंकि वे समझते है कि इस पृथ्वीतल पर सबका बराबर अधिकार है।

इब्राहीम खलीलुल्ला के पद को प्राप्त हो गए थे और लोग उन्हे ईश्वर का बन्धु समझते थे। उनका नियम था कि वे बिना

नर-यज्ञ किये कभी भी भोजन नहीं करते थे। प्रत्येक दिन वे एक अतिथि को भोजन करा कर ही आप स्वयं भोजनादि करते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि कोई अतिथि नही आ सका। इब्राहीम चिन्तित होकर अतिथि की तलाश मे चले। मार्ग मे उन्हे सौ वर्ष का एक बुड्ढा जीर्ण-शीर्णकाय मनुष्य मिला। इब्राहीम बड़ी अभ्यर्थना से उसे अपने घर लाए। अतिथि को भोजन परोस कर आप भी सपरिवार भोजन करने बैठे। नित्य प्रति की प्रथा के अनुसार सब के सब ईश्वर का स्मरण करने लगे। वृद्ध ने वैसा नही किया। इब्राहीम वृद्ध की यह उदासीनता और उपेक्षा देख कर उससे कारण पूछने लगा। उसने उत्तर दिया—"मै मुसल मान नही हूँ। मेरे सम्प्रदाय मे इस तरह की प्रथा प्रचलित नहीं है।" उसकी यह बात सुन कर इब्राहीम मारे क्रोध के लाल हो गये। उनके ओठ कापने लगे। वे अपने को किसी भी तरह सभाल न सके। उसी क्रोध के आवेश मे उस वृद्ध अतिथि को उन्होने स र कर घर से निकाल दिया। जिस समय बूढ़ा घर से बाहर निकला, उसी समय आकाशवाणी हुई—"इब्राहीम! जिस मनुष्य को मैने सौ वर्ष तक इतने आदर के साथ इस संसार मे रक्खा, क्या तुम उसे अपने घर मे आध-घण्टे के लिये भी स्थान देने मे समर्थ नही हो सके?" यह देववाणी सुनते ही इब्राहीम को पश्चाताप हुआ। वे फौरन दौड़े और उस वृद्ध अतिथि को अपने घर मे ले आए और पहले से भी अधिक खातिरदारी से उसका सम्मान किया। मालूम होता है कि इसी घटना से इब्राहीम का मोह छूटा और उन्होने खलीलुल्ला की पदवी पाई।

मुक्तसङ्ग मनुष्य इस प्रकार का व्यवहार नही कर सकता।

पापी और पुण्यात्मा सभी उसकी दृष्टि मे एक हैं। उसका उदार हृदय सब के लिए खुला रहता है। उसका मन कहता है कि संसार मे ऐसा कोई भी अधम प्राणी नही है जिसके लिए परमपिता के हृदय मे स्थान न हो। चाहे कोई कितना ही नीच क्यो न हो, भगवान अपने हृदय मे उसे भी स्थान देते ही है। चाहे वह चोर हो या हत्यारा हो, पतित-पावनी पवित्र-सलिला स्रोतस्विनी का जल सदा उसके लिए भी उसी तरह मीठा और सुस्वादु रहता है। जो मनुष्य संसार के बन्धनो से छुटकारा पा गया है उस के लिए तो सम्प्रदाय-जनित अथवा संसार-जनित बन्धन रह ही नहीं जाता। अपनी दिव्य दृष्टि के द्वारा वह संसार के सभी प्राणियो मे देवत्व और पशुत्व का भाव देखता है। उसकी दिव्य दृष्टि महा अधम, नीच से नीच पापी के हृदय मे भी देवत्व का अंश देखती है। संसार मे ऐसा कोई भी पापी नहीं है जिसके हृदय मे देवत्व के कुछ न कुछ लक्षण वर्तमान न हो। प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे देवत्व का कितना अंश है तथा पशुत्व किस परिमाण मे है इसका विवेचन तो होना कठिन है क्योंकि इसके नापने का किसी के पास कोई साधन नहीं है। प्रसिद्ध ठग तातिया भील के हृदय की उदारता का परिचय पा कर क्या कोई उसे उपेक्षा की दृष्टि से देख सकता है ? प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे षड्रसो का समावेश है। जिससे तुम्हारी शत्रुता है वह सदा तुम्हे सताने की चेष्टा करेगा। उसके इस कडुवे फल का आस्वादन करके तुम्हे यह नहीं समझना चाहिए कि उसमे कोमलता या मिठास है ही नही। उसके भी मित्र होंगे जो उसके सद्व्यवहार और नरमी से निहाल हो जाते होगे। हत्यारा क्या करता है ? एक तरफ़ तो जीव की हत्या

करता है, उसके शरीर मे पैनी कटारी बड़ी निर्दयता के साथ घुसेड़ देता और दूसरी तरफ़ वह दूसरे व्यक्ति को सप्रेम हृदय से लगाता है। ऐसा भी देखने मे आता है कि नर-हत्या-जनित आघात से हृदय के अन्तर्हित भाव जग उठते है। हमे एक हत्यारे का उदाहरण याद है। उसे फाँसी का हुक्म हुआ था और वह हिरासत मे बन्द था। वह वहाँ हर वक्त ईश्वर का नाम जपा करता था। अन्त समय तक वह ईश्वर का नाम जपता रहा। फासी दिये जाने के एक दिन पूर्व उसने एक मात्र यही प्रार्थना की थी कि अन्त समय मे मेरे मुख मे गङ्गा जल की दो बूंदे डाल देना। उसकी इच्छा पूरी की गई थी। बारिसाल जेल मे एक हत्यारे को और भी देखा था। जिस समय मै उसकी जेल-कोठरी के दरवाजे पर पहुँचा वह गाढ निद्रा मे पड़ा सो रहा था। पहरेदार ने उसे जगाया और मुझे प्रणाम करने के लिए कहा। उस कैदी का नाम मागनखाँ था। वह एक साधारण किसान था। मैने उससे पूछा--"तुम्हे फाँसी का वह कठोर दण्ड क्यो मिला? और तुम्हारा अन्तिम दिन कब होगा?" उसने उत्तर दिया कि शायद चार या पाँच दिन और शेष हैं। मैने उससे कहा- "भाई! तुम तो बड़ी निश्चिन्तता पूर्वक प्रगाढ़ निद्रा मे सोते हो। मेरी समझ मे नही आता कि ऐसी अवस्था मे तुम्हे नीद क्यो कर आती है?" उसने उत्तर दिया-"बाबू जी मेरी अवस्था इस समय ६२ वर्ष की है। बहुत दिन तक इस संसार मे रह लिया। इस संसार के अनेक रूप देखे हैं। अब जीता ही कब तक रह सकता हूँ। अधिक से अधिक पाँच या सात वरस। ६२ वरस के मुकाबिले मे ५ या ७ की क्या गणना है। इतने

देन जीना न जीना बराबर है। इस पृथ्वी पर बहुत दिन तक
रहा हूँ। एक बात और है। घर पर रह कर स्वाभाविक मौत
मरना होता। न जाने किस तरह मृत्यु होती। इस शरीर को न
जाने कौन सी यातनाएँ भोगनी पड़ती। न जाने कितने प्रकार
की व्याधियाँ आक्रमण करती। महीनो रोग-शय्या पर पड़े
कराहना पड़ता। घर के प्राणी सेवा-शुश्रूषा करते-करते परेशान
हो जाते और मन मे कहते - न जाने यह बुड्ढा कब तक पड़ा-पड़ा
सड़ा करेगा। यदि अब भी मर जाता तो अच्छा होता। मै भी
पीड़ा की यातना भोगते-भोगते घबरा उठता और प्रति दिन ईश्वर
से यही प्रार्थना करता कि हे महाप्रभु! हमारी रक्षा करो, हमारा
उद्धार करो। इस कष्टमय जीवन का शीघ्रातिशीघ्र अन्त करो।
तो क्या इस प्रकार से मरना प्रिय होता? यहाँ तो एक दफे
गला दबा और सब साफ! यहाँ उद्वेग का कोई कारण नही।"
उसकी बाते सुन कर मै अवाक् रह गया। मेरी समझ मे नहीं
आया कि मांगनखाँ मे इतना धैर्य कहाँ से आया? मैने यह
धारणा की कि किसी भी व्यक्ति के हृदय के भावो को जानने की
चेष्टा करना मनुष्य की धृष्टता मात्र है। अब मेरी समझ मे आया
कि ईश्वर ने इसी बात को समझाने के लिए मुझे इस हत्यारे के पास
तक पहुँचाया है। मैने अनुमान कर देखा तो मुझे प्रतीत हुआ
कि इस धीर व्यक्ति के मुकाबिले मे मेरी कुछ भी गणना नहीं है।

मुक्तसङ्ग मनुष्य ने अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा इस मर्म को भली-
भाँति समझ लिया है कि पतित-पावन आनन्दकन्द के प्रेम-चक्र
मे पड़ कर महापापी भी एक दिन विशुद्धात्मा हो जायगा। चाहे
कोई कितना भी पाप क्यो न करे, ईश्वर का विधान प्रत्येक प्राणी

के पापों को काटता ही है। पापों का पहाड कट जाता है। पापा-चरण करते हुए उस पापी को इस बात का अवश्य ही ज्ञान होगा कि मै अनुचित मार्ग पर चल रहा हू। यह भाव धीरे-धीरे इतना भीषण हो उठेगा पश्चात्ताप की ज्वाला इतनी प्रबल हो उठेगी कि उसे उस मार्ग का त्याग करके सन्मार्ग पर चलना होगा। यदि ऐसा न होगा तो शान्ति भी नही हो सकती। अंग्रेजी मे एक कहावत है :—Out of evil cometh good अर्थात् बुराइयों से भलाई की उत्पत्ति होती है। बुराई करते-करते मनुष्य अस्थिर हो जाता है, क्लान्त हो जाता है। इस वेदना से पीड़ित होकर वह सुमार्ग की खोज मे चलता है और उसकी प्राप्ति कर के उसी का अवलंबन करता है। मुक्तसङ्ग मनुष्य यह मानता है कि एक न एक दिन सभी सन्मार्गगामी होगे, इसीलिए वह सब के प्रति उदार भाव प्रगट करता है।

जिसके हृदय मे उदारता का स्रोत बहा करता है, वह किसी भी अवस्था मे कदम पीछे नही हटाता। हृदय की उदारता, जब समस्त विश्व मे व्याप्त हो जाती है, तब अभिमान और बेगानेपन का भाव लुप्त हो जाता है, और इमर्सन के शब्दो मे:—He will be content with all places and with any service he can render" अर्थात् किसी भी कार्य्य या पद पर उसे रख दीजिए वह सन्तुष्ट रहेगा। उसकी दृष्टि मे कोई भी ऐसा पद नही है जिसकी प्रतिष्ठा कम या अधिक हो। जिस पद पर वह प्रतिष्ठित हो जायगा, उस पद को त्याग कर वह दूसरे पद की प्राप्ति की कामना नही करेगा।

मुक्त-सङ्ग मनुष्य मे त्याग की मात्रा भी अत्यधिक रहती है

जो मनुष्य हर बन्धन से मुक्त है, उसे त्याग मे भी किसी तरह का कष्ट अनुभव नही हो सकता । जो मनुष्य संसार के मोह-बन्धन मे जितना ही फॅसा रहता है, उसके लिए त्याग भी उतना ही कठिन हो जाता है। जो राग-द्वेष का त्याग करके, परमपिता परमेश्वर की आत्मा को अपने मे प्रतिष्ठित देख लेता है, वह मनुष्य सर्वार्थसिद्ध हो जाता है। हम लोग जिस भाव को त्याग संज्ञा देते है वह उसकी दृष्टि मे कोई बात नही है ।

पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाव शिष्यते ॥

अर्थात् यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से ही पूर्ण की उत्पत्ति हुई है। पूर्ण मे ही पूर्ण अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है और अन्त मे पूर्ण ही रह जाता है ।

जिस मनुष्य ने इस तत्व को पूर्णतया समझ लिया है वह जानता है कि त्याग से उसकी किसी प्रकार की हानि नही हो सकती। और इसीलिए वह त्याग से डरता नही। दधीचि समझ गये थे कि जीवन का उत्सर्ग करना कोई बडा भारी त्याग नही है अतः वृत्रासुर के संहार के निमित्त उन्होने बिना किसी प्रयास के प्राण त्याग किया । उन्हीकी हड्डी से वज्र बना और उसी वज्र के द्वारा वृत्रासुर का संहार हुआ। त्याग से ही वज्र समान कठोर से कठोर अस्त्र का जन्म हुआ । रूस के सेनापति स्टोसेल ने रूस-जापान-युद्ध के समय पोर्ट आर्थर पर जापानी वीरोके असीम और अभूतपूर्व त्याग को देख कर कहा थाः—जापान निवासी मातृभूमि की वेदी पर जिस साहस और उत्साह के साथ

अपना सर्वस्व बलिदान कर रहे हैं वही त्याग उन्हे रण-क्षेत्र मे इस प्रकार दुर्जय बना रहा है" पोर्ट आर्थर के विजयी जापान सेनापति नोगी ने रण-क्षेत्र मे अपने दोनो पुत्रों के संहार का संवाद सुनकर कहा था —"मेरे दोनो रत्न स्वदेश की बलि-वेदी पर चढ गये, इससे उत्तम बात और क्या हो सकती थी।" त्याग से जिस शक्ति की उत्पत्ति होती है, उसके द्वारा पाप,अधर्म, अन्धकार और समस्त कुवासनाओ का नाश हो जाता है।

कर्मयोगी मुक्तसङ्ग है, इसीलिए वह स्वस्थ है, स्वाधीन है, विकार और उद्वेग रहित है प्रसन्न चित्त है, उदार है और त्यागी है।

अहंकार हीनता

सात्विक कर्ता अहंकारहीन होता है। जो संसार के लगाव से मुक्त हो जाता है जिसके हृदय मे से 'अहम्" का भाव उठ जाता है। फिर उसके लिए "अहम्" तो कोई वस्तु नहीं रह जाता। जब "अहम्" का बन्धन दूर होजाता है तो मनुष्य का हृदय निर्मल आकाश की तरह शुभ्र हो जाता है। फिर उसके उदार चित्त मे सारा विश्व एक प्रतीत होने लगता है, भेद-भाव उठ जाता है और वे किसी भी बात मे उद्विग्न नहीं होते। जिस प्रकार ससार का धन्धा सुसंगठित और सुसम्पन्न हो कर चलता है, उसी प्रकार उनके जीवन का कार्य भी सुसंगठित हो कर सुचारु रूपेण चलता है। उनके हृदय मे यह भाव दृढतर होकर जम जाता है कि भगवान की प्रेरणा और देवताओं की सदिच्छा से जो कुछ मेरे जीवन मे घटेगा, वह उचित ही होगा। इसी भाव से प्रेरित हो कर वे किसी भी बात से, किसी भी घटना से,

उद्विग्न नही होते। इसी प्रसङ्ग को ले कर महर्षि वशिष्ठ ने योग-वाशिष्ठ मे कहा भी है:—

त्यक्ताहंकृतिराश्वस्तमतिराकाशशोभनः।

अर्थात् अहङ्कार का त्याग कर देने से मनुष्य की बुद्धि, एक दम से स्थिर तथा उद्वेगशून्य हो जाती है और अहङ्कारहीन मनुष्य निर्मल आकाश की भाँति स्वच्छ हो कर अतिशय शोभा को प्राप्त होता है। ग्लेड्स्टन अनुद्विग्नचित्त और स्थिर-प्रकृति का मनुष्य था। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रधान मन्त्रित्व का गुरुतम भार उसके सिर पर बोझ की भांति लदा था, फिर भी वह उद्विग्न या चिन्तित नहीं हुआ। यह देख कर उसके एक मित्र को अति आश्चर्य हुआ और उन्होंने उससे इस विषय मे पूछा। उसने उत्तर दिया:—इतने दिनो मे केवल एक दिन चिन्ता के मारे मुझे नीद नही आई। एक दिन की बात है कि मै एक ओक वृक्ष अपने हाथो से काट रहा था। काटते-काटते शाम हो गई। फिर भी थोडा काम रह गया था। मै थक गया था। इस लिए उस दिन उसे उसी तरह छोड कर मै घर लौट आया। रात को तूफान आया और उस तूफान से मेरी निद्रा टूट गई। मै पड़े-पड़े चिन्ता करने लगा कि इस तूफ़ान से वह वृक्ष अवश्य ही टूट गया होगा। मै उसे काट कर नही गिरा सका। मै इतने बड़े साम्राज्य के कार्य-भार की चिन्ता को पार्लियामेंट के द्वार पर ही छोडकर घर आता हूँ और घर मे लेश-मात्र भी चिन्ता मेरे सर पर नही रहती।"

"अहम्" भाव के दूर होते ही अपने-पराये का भेद-भाव निकल जाता है। जहाँ अपने और पराये का भेद-भाव मिट

जाता है, फिर धन्यवाद और कृतज्ञता की चाह नहीं रहती। क्या भाई से भाई धन्यवाद या कृतज्ञता का इच्छुक होगा ? क्या पिता अपने पुत्र के मुँह से अपने यश की कीर्ति सुन कर सुख तथा प्रसन्नता लाभ करेगा ? जहाँ सभी अपने है, वहाँ कृतज्ञता और प्रशंसा की अभिलाषा किससे की जाय ? और न वह किसी के निकट कृतज्ञता प्रकाशित करने की इच्छा ही कर सकता है। उस अवस्था मे जब कि उपकार और भलाई करना तो अपना एक मात्र उचित कर्तव्य ही है, फिर कर्तव्य का पालन करने मे किस बात की कामना करनी चाहिए ?

अहङ्कार हीन पुरुष के कर्त्तव्यपालन मे किसी तरह की विडम्बना नहीं रहती। जिस प्रकार प्रकृति आडम्बरहीन हो कर सहज भाव से अपने कर्तव्य का पालन करती जाती है, उसी तरह वह भी सहज उदार भाव से अपना कर्तव्य करता जाता है। महर्षि वशिष्ठ ने योगवाशिष्ठ मे कहा भी है: —

नाभिवाञ्छाम्यसंप्राप्त सम्प्राप्तं न त्यजाम्यहम् ।
स्वस्थ आत्मनि तिष्ठामि यन्मास्ति तदस्तु मे ॥
इति सञ्चिन्त्य जनको यथ.प्राप्तम् क्रियामसौ ।
असक्त: कर्तुमुत्तस्थो दिनम् दिनपतिर्यथा ॥

अर्थात् जिस वस्तु की प्राप्ति मुझे नहीं हुई है या जो वस्तु मेरे पास नहीं है, मै उसकी प्राप्ति के लिए चिन्तित नहीं होता और न मै उसकी आकांक्षा करता हूँ। पर जो पदार्थ मुझे प्राप्त हो गया है उसे मै छोड़ता भी नहीं। इसीलिए मै सदा निश्चिन्त हो कर रहता हूँ कि जो मेरा है वही सदा मेरा बन कर मेरे पास

रहे। हृदय में यही धारणा कर के राजर्षि जनक अनासक्त-भाव से अपना सारा काम उसी तरह करते थे, जिस तरह सूर्य अनुद्विग्न हो कर प्रतिदिन अपना काम स्थिर भाव से करता जाता है। जिस प्रकार सूर्य दिन के समय अपनी ज्योति को प्रकाशित कर के संसार का कल्याण करता है उसी प्रकार वे भी संसार की मङ्गल-कामना से प्रेरित हो कर संसार के हित के योग्य काम का निष्पादन करते हैं। जो जनक स्थिर भाव से यह कह सकते थे कि सारी मिथिला जल कर भस्म हो जाय तो भी मेरी किसी तरह की हानि नहीं हो सकती, जो जनक अगम्य शास्त्रों के विज्ञ हो कर भी अपने को तुच्छ और अकिञ्चन समझते रहे, वही जनक किस प्रकार सहज और उदार भाव से संसार के कल्याण की कामना करते रहे।

जिस मनुष्य ने आडम्बरों का त्याग कर दिया है और जो सरलता को स्वीकार कर के प्रकृति में निमग्न हो गया है, उसके लिए—

अभिमानम् सुरापानं गौरवं रौरवस्तथा।
प्रतिष्ठा शूकरीविष्टा ॥

"अभिमान करना मदिरा पीने के बराबर है और गौरव की कामना करना रौरव नरक में जाने का मार्ग प्रशस्त करना है और प्रतिष्ठा पाने की चेष्टा करना सूअर के मल को संगृहीत करने के बराबर है।" जापान के नौ सेनापति टोगो महाशय ने इस भाव को पूरी तरह हृदयङ्गम कर लिया था। एक दिन की बात है कि वे बाजार में गये। उन्होंने देखा कि एक तस्वीर बेचने वाला उनकी तस्वीर बेच रहा है। टोगो महाशय उसके पास गये और उसे

भला-बुरा सुनाते हुए कहने लगे—"मेरे सदृश अकर्मण्य मनुष्य की फोटो तुम क्यों बेच रहे हो। इतना कह कर उन्होंने उसके पास से अपनी सभी तस्वीरें ले ली और उनका उचित मूल्य उसे दे दिया। उसकी दृष्टि में वास्तव में प्रतिष्ठा सूकर के मल के समान थी। क्योंकि इस तरह के भाव हृदय में उठे बिना कोई भी मनुष्य इस तरह का आचरण नहीं कर सकता। टोगो महाशय के संबन्ध में डेलीमेल पत्र के संवाददाता मैक्सवेल साहेब ने लिखा था: "मैं किसी स्टेशन पर भीड़ में उन्हें खोज रहा था। उसी समय उनके एक अति घनिष्ठ मित्र ने मुझे एक कोने में ले जा कर कहा, गाडी खुलने के चन्द मिनट पूर्व आप उन्हें रेलवे प्लेटफ़ार्म पर पा सकेंगे।" उनकी अभिमानशून्यता और सादेपन को देख कर जापान-निवासी उन्हें The Silent Admiral "शान्त नौसेनापति" कहा करते थे। इसी उपाधि को ले कर जापान में उनके सम्बन्ध में एक किवदन्ती प्रचलित है कि "जापान में यदि ऐसा कोई व्यक्ति है जो केवल उंगली हिला कर अपने अधीनस्थ जापानी सैनिकों का संचालन कर सकता है तो वह टोगो महाशय है।" सच यह है कि अहंकारहीन, सरल स्वभाववाले मनुष्य की शक्ति अतुल और अत्यन्त प्रभावशाली होती है। सारा संसार उसका सहायक है। इसलिए उसके योग्य करणीय कार्य का संपादन भी अतिशय सुगमता से हो जाता है। दूसरे लोक (परलोक) का हिसाब कर के भ्रांति की सम्भावना से निराश हो कर कार्य करने की आवश्यकता नहीं है। जिसने अहङ्कार के दुर्गम तथा दुर्जय किले पर अधिकार कर, उसे छिन्न-भिन्न कर डाला है, उसके हृदय में सारा विश्व एक रूपेण प्रतीत

होने लगता है, संसार के सभी प्राणी उसे अपने ही प्रतीत होने लगते है, वह अपने को सब मे देखने लगता है और यही कारण है कि वह स्वच्छ, सरल और अनाविल होता है। उसको देख कर हृदय के कपाट आप-से-आप खुल जाते है। पर साथ ही साथ सरल हो कर भी वह सदा सतर्क रहता है, जिस तरह पिता पुत्र के सामने सरल और उदार प्रकृति का हो कर भी सदा सतर्क रहता है, वही हालत उसकी होती है। उसके सतर्क रहने का यह कारण है कि लोग अधिकार-भेद के आधार पर वही जानते है जिसे जानना अपना कर्त्तव्य समझते है। इससे उसे क्षति पहुंचा सकते हैं। पर उसके उदार हृदय के संसर्ग से और उसकी प्रतिष्ठा करने से तुम मुग्ध हो सकते हो। संसार के साथ उसकी घनिष्टता और मैत्री हो गई है इस बात का स्मरण करके इमर्सन महोदय के शब्दो मे —

He has but to open his eyes to see things in a true light and in large relations.

अर्थात् संसार की वस्तुओ की वास्तविक सत्ता को पहचानने तथा संसार के साथ उनके सम्बन्ध को अच्छी तरह जानने के लिए उसे केवल अपने नेत्रो को खोलना भर है कि बात की बात मे वस्तुस्थिति का ज्ञान हो जाता है।

अहंकारहीन मनुष्य नीलाकाश की तरह स्नेहमय मालूम होता है। नीलाकाश की तरह ही अहंकार रहित मनुष्य भी सबको प्यारा प्रतीत होता है। परमहस रामकृष्ण ही को देखिए। उनके पास जाने मे किसी को लेशमात्र भी संकोच नहीं होता था। जितने समय तक लोग उनके पास बैठे रहते थे,

लोगो के हृदय मे यही भाव विद्यमान रहता था कि ये हमारे साथी और घनिष्ट मित्रों मे से हैं। जिसके मन मे जो बात आती थी, जो भाव उदय होते थे वह बिना किसी सङ्कोच या आशङ्का के उनके सामने प्रगट कर देता था। इस प्रकार बालक, युवा, वृद्ध, नर, नारी सभी के लिये वे आनन्द और प्रसन्नता के विषय थे। सभी उन्हे अपना मित्र समझते थे। प्रत्येक मनुष्य के साथ वे इतनी उदारता और सरलता से मिलते थे कि मन मुग्ध हो जाता था। उनके पास से हट जाने पर मन मे यह भाव उदय होते थे कि "हम ने क्या किया है। इतने बड़े महात्मा क पास जाकर कितने ओछेपन से बात की है?" एक दिन प्रात स्मरणीय रामतनु लाहिड़ी महोदय ने मुझसे कहा— 'चलो एक सज्जन और श्रेष्ठजन से तुम्हारा परिचय करा दे।" मैने उनसे विनम्र हो कर कहा—"मुझे किसी बड़े आदमी के समक्ष उपस्थित होने मे बडी लज्जा और सङ्कोच मालूम होता है।" उन्होने उत्तर दिया 'जिसके निकट जाने मे मनुष्य को किसी तरह का सङ्कोच या भय उपस्थित हो उसे कभी बडा आदमी नही समझना चाहिए।" वास्तव मे रामतनु लाहिडी महाशय, राजनारायण बसु महाशय स्वामी दयानन्द, महात्मा गाधी आदि महापुरुषो के समक्ष जाने मे किसी तरह का सङ्कोच उत्पन्न नही होता था। इन महानुभावो की संगति और उपदेश आदि से जो लाभ होता है उन उपदेशो का भार भी इतना भारी नहीं होता कि मनुष्य उन्हें लेकर उठ ही न सके। जिस तरह सुबह-शाम हवा खाने के लिए टहलना कठिन प्रतीत नहीं होता, उसी तरह इन लोगो के पास जाकर उपदेश और शिक्षा ग्रहण करना भी कठिन

नही, बल्कि अति सहज प्रतीत होता है। जो कुछ लाभ इन लोगो से होता है, वह अज्ञातरूप से हम लोगो के हृदय मे पैठकर अपना काम करता है। इस दान और ग्रहण मे एक विचित्रता और भी है कि न तो देने वाला ही यह समझता है कि हमने कुछ अपने पास से दिया है और न लेने वाला ही यह समझता है कि हमे कुछ मिला है। इसी सम्बन्ध मे इमर्सन ने कहा है:— "It costs a beautiful person no exertion to paint her image on our eyes, yet how splendid is that benefit! It costs no more for a wise soul to convey his quality to other men" जिस प्रकार किसी को देखते ही उसके रूप लावण्य का चित्र नेत्र-पट पर खिंच जाता है, उसकी मोहिनी मूरत आँखो मे समा जाती है, पर उस मनुष्य को दूसरो की नजरो मे रूपवान दिखाई देने के लिए किसी तरह का प्रयास नही करना पडता पर फिर भी दूसरे व्यक्ति को अतिशय लाभ और आनन्द मिलता है। उसी प्रकार किसी महात्मा को भी दूसरो के हृदय पर छाप जमाने मे किसी तरह का परिश्रम नही करना पड़ता, पर इससे संसार का असीम लाभ होता है।

जिसके हृदय से अहङ्कार का भाव लुप्त हो गया है फिर उसे मान और अपमान का भी कोई विचार नही रहता। लबार-पन उसमे नही रहता, उसके हृदय में न तो किसी तरह की ज़िद रह जाती है और न द्वेष या बैर को ही स्थान मिलता है। उसके लिए संस्कृत का निम्न लिखित भाव सर्वथा सत्य और उपयुक्त है:—"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।" अर्थात् वह किसी से द्वेष नही रखता, संसार के सभी प्राणियो की सदा

भलाई चाहता है और उनके लिए उसके हृदय मे असीम करुणा के भाव भरे रहते है। यदि कोई उसके साथ वैर करता है तो वह उसे अबोध या ज्ञान रहित समझ कर उस पर कृपा ही करता है। यदि वह देखता है कि उसके कल्याण के लिए शासन की आवश्यकता है तो पिता जिस प्रकार शासन करता है उसी प्रकार उस व्यक्ति की भलाई की कामना से वह भी उसका शासन करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है।

जिस मनुष्य के हृदय से अहङ्कार निकल गया है, वह विश्वासी है, उसकी बुद्धि स्थिर है, उसमे अभिमान का लेश भी नहीं रह गया है, उसमे किसी तरह का आडम्बर नही रह गया है, उसकी प्रकृति सरल हो जाती है, उसके पास जाने मे किसी तरह का सङ्कोच नही होता और उसमे ईर्ष्या-द्वेष नही रहता'

धृतिसमन्वित

सात्विक प्रवृत्ति का मनुष्य धृतियुक्ति होता है। अनेक तरह की विघ्न-बाधाओ तथा विपत्तियो के आजाने पर भी अन्तःकरण की प्रवृत्तियां प्रारब्ध कर्म का परित्याग नहीं करतीं। इसी भाव को धृति कहते हैं। विघ्न-बाधाओ और विपत्तियों से घिर जाने पर भी स्थिर रहने के लिए मनुष्य मे संयम की आवश्यकता है। जिस मनुष्य मे संयम का अभाव है, वह इस प्रकार की विपत्तियो से घिर जाने पर अपने धैर्य्य की रक्षा नही कर सकता। असंयमी पुरुष मे धीरता नहीं रहती। उसके हृदय के परदे बड़े ही कमजोर होते हैं। विघ्न-बाधाओ के साधारण धक्के को भी वे बरदाश्त नही कर सकते और टूट कर गिर पड़ते हैं। धृतियुक्त मनुष्य संयमी होता है। वह निडर होता है और उसमे असीम सहनशीलता

होती है। कठिन से कठिन आपत्तियो के आने पर भीषण से भीषण विघ्न-बाधाओ के उपस्थित हो जाने पर, वह किसी भी तरह संत्रस्त और अधीर नही होता। कोई भी अनिष्टकारी अवस्था उसे अधीर बना कर पीछे हटाने के लिये प्रेरित नहीं कर सकती। यह बात बहुतो को विदित है कि ब्रह्मधर्म का प्रचार करने के लिए जिस समय गोस्वामी विजयकृष्णदेव स्थान-स्थान पर भ्रमण कर रहे थे, उस समय उन्हे साधारण-से-साधारण, मोटे-से-मोटे अन्न पर निर्वाह करना पड़ा था। इस के अलावा और भी अनेक तरह के कष्ट उन्हे सहने पड़े थे। इन कष्टो और यातनाओ ने किसी भी अवस्था मे इन्हे अधीर नही होने दिया। * जिस मनुष्य

---

*संसार मे शान्ति की स्थापना के लिए महात्मा गाँधी की सहन-शीलता के समान अभी तक तो दूसरा उदाहरण नही मिलता। संसार की भभकती हुई ज्वाला को शान्त करने के लिए, ससार से अनाचार और दुर्नीति का राज्य उठा देने के लिए वे जिस साहस और उत्साह के साथ कार्य करते है, उसकी सराहना शब्दो द्वारा नहीं की जा सकती। उनके कार्य के मार्ग मे जो कठिनाइयाँ उपस्थित हुई, उनका भी वर्णन अतिशय रोमाञ्चकारी है। अफ्रीका के सत्याग्रह-आन्दोलन से लेकर भारत के असहयोग-आन्दोलन तक का इतिहास भीषण प्रकार की बाधाओ और विपत्तियो का इतिहास है। कभी-कभी तो उन्ही के अधीनस्थ काम करने वाले भ्रम मे पड गये और यह सोचने लगे कि महात्माजी ने हमे धोखा दिया है और उनका साथ छोड़ कर अलग हो गये। एक-आध ने तो उनका प्राण ही ले लेने का यत्न

मे धृति है, वह संसार के सभी प्राणियो मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता है। उसके चारो ओर सदा शान्ति का साम्राज्य विराजमान रहता है। किसी भी अवस्था मे, किसी भी कारण, वह उद्विग्न या उत्तप्त नही हो जाता। उसे इस संसार मे किसी भी बात का डर नहीं है। संसार-चक्र के भीषण कोलाहल मे भी वह अटल और अक्षुण्ण शान्ति का अनुभव करता है। अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित शत्रु उसके प्राण लेने के लिये उसे भले ही घेरे हो, शस्त्रो की चमचमाहट और झनकार भले ही किसी के हृदय को कंपायमान क्यो न कर रही हो, पर ऐसा पुरुष तो मौत के मुँह मे जाते समय भी अटल, अचल और स्थिर रहता है। किसी भी तरह उसकी प्रकृति मे विकार नही उत्पन्न होता। कहा भी है:—

दग्ध दग्धं त्यजति न पुनः काञ्चनं दिव्यवर्णम्
घृष्टं घृष्टं त्यजति न पुनश्चन्दनं चारुगन्धम् ॥
खण्ड खण्ड त्यजति न पुनः स्वादुतामिक्षुदण्डम्।
प्राणान्तेऽपि प्रकृतिर्विजायते नोत्तमानाम् ॥

किया था। पर महात्माजी इतने पर भी विचलित न हुए। अपने मार्ग पर, सदा चलते रहे। असहयोग-आन्दोलन के प्रचार के कारण उन पर जो अभियोग चलाया गया था, उसका उन्होंने खुली अदालत मे जिस निर्भीकता के साथ उत्तर दिया था वह संसार के इतिहास मे स्वर्णाक्षरों मे लिखा जायगा। नौकरशाही ने उन्हे जेल मे ठूंस दिया है। पर वहां से भी उनको यही आवाज़ आ रही है:—"मेरा असहयोग-आन्दोलन में पूरा विश्वास है, केवल एकमात्र इसी से संसार का कल्याण होगा।"—अनुवादक

अर्थात् बार-बार जलाये और तपाये जाने पर भी सोना अपने सौन्दर्य को नही छोडता (बल्कि जितना तपाया जाता है उतना ही चमकता है।) बार-बार घिसने पर भी चन्दन अपनी स्वभावगत सुगन्धि को नही छोड़ता, ईख टुकड़े-टुकड़े किये जाने पर भी अपने मीठेपन को नही छोड़ता, उसी प्रकार उत्तम पुरुषो की प्रकृति किसी भी अवस्था मे विकारमयी नही होती।

कैसी भी विपत्तियां और कितनी ही बाधाये क्यो न उपस्थित हो जायं, धृतिमान पुरुष कभी उद्विग्न नही होता, बल्कि उलटा और अधिक उत्साह ग्रहण करता है। इसी प्रसंग को लेकर महाराज भर्तृहरि ने अपने नीति-शतक मे लिखा है—

कदर्थितस्यापि धैर्य्यवृत्तेर्बुद्धेर्विनाशो नहि शकनीयो।
अधः कृतस्यापि तनूनपातो नाधः शिखा याति कदाचिदेव॥

अर्थात् धीर प्रकृति मनुष्य की बुद्धि उत्पीड़ित होने पर भी किसी प्रकार से विकृत हो सकती है इस प्रकार की आशङ्का करना व्यर्थ है। अग्नि को कितना ही नीचे की ओर क्यो न दबाइये उसकी लपट सदा ऊपर को ही जायगी।

महापुरुष मुहम्मद साहव ने किस प्रकृष्टतम धृति-बल का परिचय दिया था। मार्टिन लूथर ने धैर्य के बल पर ही यूरोप के महा प्रतापशाली, सर्वशक्तिमान, ईश्वरतुल्य रोम के पोप के घोषणापत्र को हजारो की उपस्थिति के समक्ष बिना किसी डर व भय के फाड़ कर आग मे डाल दिया था। अमेरीका मे जिस समय थ्यूडर पार्कर गुलामी प्रथा के प्रतिकूल आन्दोलन कर रहा था, उस समय की बात है कि अमेरीका के सहस्रो निवासी

गुलामी-प्रथा का प्रतिपादन और समर्थन करने के लिए एक महती सार्वजनिक सभा कर रहे थे। वक्तागणों ने बोलते-बोलते थ्यूडर पार्कर का नाम लेकर कहा—"यदि आज हम लोग इस स्थान पर थ्यूडर पार्कर को पा जाते तो उसकी बोटी-बोटी काट डालते।" थ्यूडर पार्कर उस सभा मे उपस्थित था। विपत्तियो के मुँह से इतना सुनते ही वह उठ खड़ा हुआ और अपनी छाती ऊँची कर के कड़क कर निर्भीक स्वर मे गर्ज कर बोला—"थ्यूडर पार्कर यही तुम लोगों के समक्ष उपस्थित है। क्या तुम लोगो मे से किसी को साहस है जो उस का बाल भी बांका कर सके।" इतना कह कर वह पूर्ण साहस और वीरता के साथ उस सभा से उठ कर चला गया। सब कोई अवाक् हो कर देखते रह गये। किसी से कुछ करते न बना। धृतिमान मनुष्य कितना निर्भीक हो सकता है, इसका इससे बढ़ कर दूसरा ज्वलन्त उदाहरण नहीं मिल सकता।

जिन महापुरुषो ने धर्म अथवा देश के लिये अपने अमूल्य जीवन का उत्सर्ग किया है, उन लोगो ने धृति-बल का सब से बढ़ कर उदाहरण छोड़ा है। लरेन्सियस नामी एक महात्मा को प्रचलित धर्म के विरुद्ध किसी धर्म पर विश्वास और आस्था रखने के कारण प्राणदण्ड की आज्ञा हुई। उन्हे खाट पर सुला दिया गया और उसके नीचे चिता जला दी गई। उस स्थान पर उस देश के राजा भी उपस्थित थे। उनकी पीठ का जब कुछ अंश जल भी चुका था, तब उन्होने हँसते हुए सम्राट् से कहा—"महाराज, अब मेरा जला और कच्चा दोनो प्रकार का मांस मेरे शरीर से काट कर चखिये और देखिये, किसमे, किस प्रकार

का स्वाद है ?" क्या इससे भी बढ़ कर धृति-बल का कोई और अधिक जीता-जागता उदाहरण हो सकता है ?

उत्साही

सात्विक-कर्ता मे उत्साह असीम होता है। संसार के कल्याण की कामना से अथवा श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए प्राणीमात्र के हित के लिए जो काम किया जाता है, उस मे असीम आनन्द का स्रोत बहता है और जिस काम मे आनन्द की प्राप्ति की सम्भावना रहती है, उसके आचरण मे मनुष्य को असीम आनन्द प्राप्त होता है। इससे यह परिणाम निकला कि एक कर्मयोगी मे आनन्द और उत्साह ये दो शुभ गुण वर्तमान रहते है। जिनके हृदय मे उत्साह है उनको किसी के भरोसे की परवा नही रहती। उन्हे अपने बाहुबल पर पूरा भरोसा और ईश्वर मे विश्वास रहता है। उनमे साहस की भी कमी नही रहती। वे सदा इस भाव को धारण करते है :—

यदि तोर डाक् शुने केउ ना आसे,
तबे एकला चलरे,
एकला चल, एकला चल, एकला चलरे

× × ×

यदि सबाइ फिरेयाय, ओरे ओरेओ अभागा
यदि गहनपथे यावार काले केउ फिरे ना चाय,
तबे पथेर कांटा,
ओ तुई रक्तमाथा चरणतले एकला दलरे।

अर्थात् यदि तेरी पुकार सुन कर कोई आगे न बढ़े तो तू अकेला ही आगे बढ़। किसी की प्रतीक्षा मत कर। अकेला ही चल।

अगर सब लौट पड़ें, ओ अभागे, अगर दुर्गम मार्ग पर चलते समय तेरा कोई साथ न दे तो उस कंटकमय मार्ग पर लहू-लुहान पैरों से तू अकेला ही चल दे।

उत्साही मनुष्य सदा नया प्रतीत होता है। क्योंकि साहस रहने पर उसे सदा नये-नये करणीय-कर्म दृष्टि-गोचर होते हैं।

मनुष्य की यही स्वाभाविक प्रकृति है। तेज, आनन्द और नयी वस्तु को देखकर उसका मन उस तरफ खिंच जाता है। उस आकर्षण मे जिन लोगों का संसर्ग आनन्दी तथा उत्साही पुरुष के साथ हो जाता है, वे भी आनन्दित और उत्साहपूर्ण हो जाते है। उनके पक्ष मे 'संसर्गजाः दोषगुणाः भवन्ति' पूर्णरूप से चरितार्थ होता है। यह हो सकता है कि प्रचलित प्रथा मे अन्धविश्वास रखने वाले लोगों पर केवल सुनने या देखने मात्र से कुछ असर न हो, पर जो उसके संसर्ग मे आ जायंगे, उन पर तो उसका प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। उत्साही पुरुष के संसर्ग से गुणों की किस प्रकार बढ़ती होती है, सद्भाव किस प्रकार प्रगट हो कर चमकने लगते है और उस प्रज्वलन मे कितने साहसिक कार्य सम्पन्न हो जाते है, इसके अनेक ज्वलन्त उदाहरण इतिहास मे मौजूद हैं।

सिद्धि–असिद्धि में समभाव

साधारण मनुष्य जिस सिद्धि के लिए पागल हो जाता है, सात्विक-कर्ता उसकी कभी चिन्ता तक नही करता। वह जानता है कि बाह्य सिद्धि न होने पर भी भीतर की सफलता तो अवश्य होगी। ज्ञान की प्राप्ति से जिस प्रकार हृदय मे ज्योति का प्रकाश होता है, प्रेम से जिस प्रकार आनन्द की वृद्धि होती है, उसी प्रकार कर्म से शक्ति की वृद्धि होती है। पुण्य कर्म करने का

पुण्य फल अवश्य ही होगा। यदि बाह्य कार्य मे सम्प्रति सफलता न मिले तो भी अन्तःशक्ति के प्रयोग के काम का फल तो अवश्य मिलेगा। जिस समय भगवान श्रीकृष्ण सन्धि का प्रस्ताव ले कर दुर्योधन के पास जा रहे थे, उस समय महामति विदुर ने कहा था:—"दुर्योधन एक नहीं सुनने का, व्यर्थ के लिए इस प्रस्ताव से क्या फायदा ? आपकी बात न मानेगा और उपेक्षा करेगा।" उस समय भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया था :—

धर्मकार्यं यतन शक्त्या नोचेत् प्राप्नोति मानव ।
प्राप्तो भवति तत्पुण्यमत्र मे नास्ति सशयः ॥

अर्थात् मनुष्य को अपनी शक्ति भर सदा धर्माचरण की चेष्टा करनी चाहिए , चाहे उसमे सफलता मिले चाहे न मिले। यदि उसका फल नही मिलता तो क्या, तज्जनित जो पुण्य फल है, उसकी प्राप्ति तो अवश्य ही होती है ।

और साथ ही साथ बाह्य फल के सम्बन्ध मे भी यही बात निश्चय है—"नेहोभिक्रमनाशोस्ति ।" पश्चिमी ऋषि चेलासियावासी ने कहा था—"No true effort can be lost" अर्थात् यदि किसीने सच्चे दिल से किसी काम को करने की चेष्टा की है तो वह निष्फल नहीं हो सकता। इन सब बातो को देख-सुन कर क्या फिर भी कोई अपने जीवन मे किये कार्य के फलाफल को देखने का विचार कर सकता है ? जीवन की किस धारा मे, किस समय मे, किस कार्य का फल मिलेगा, इसका पता तो हमारी क्षुद्र दृष्टि को नही लग सकता । किनारे पर खड़े हो कर मैने अगाध जलराशि वाले तालाब मे एक ढेला फेका। मै देखता हूँ कि ढेला फेंकने से जलराशि आन्दोलित हो उठी और उसमे तरंगो पर

तरंगें उठने लगीं, पर कहीं-न-कहीं जा कर वे सब विलीन हो गईं। पर मैं इसका पता नही बतला सकता कि उनका क्या हुआ? उसी प्रकार मानवरूपी सागर की कर्मरूपी इस अगाध जलराशि मे हमारी क्षुद्र चेष्टायें कितनी लहर उठावेंगी और वह कहां जा कर विलीन हो जायंगी, इस की धारणा क्या मै कर सकता हूॅं? पर इससे यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि वह चेष्टा विफल हो गई। यदि वह आज विफल हुई तो कल वही फलवती भी होंगी। आज जिस श्रम मे हमे असफलता मिली है कल उसीमे हम सफल मनोरथ होगे। धर्माचरण असफल हो कर भी सफलता का मार्ग दिखाता है और अन्त मे सफलता को ला कर सामने रख देता है। इटली की स्वाधीनता का उदाहरण ले लीजिये। प्रजातन्त्रवादियो की चेष्टाएं अनेक बार विफल हुईं। विदेशी शक्तियो के सामने उन्हे अनेक बार हार खानी पड़ी, पर इस हार का परिणाम क्या हुआ? प्रत्येक बार उनकी शक्ति मे कुछ-न-कुछ नया बल अवश्य आया। अन्त मे उन्होंने विजय लाभ की। इङ्गलैण्ड मे प्रजातन्त्र की स्थापना क्या एक दिन मे हो गई थी? राजा के विशिष्ट अधिकारो के साथ भीषण संग्राम करना पड़ा था। अनेक बार पराजय का फल चखना पड़ा, तब कहीं अन्त मे जा कर सफलता मिली। इसी पर लार्ड बाइरन ने लिखा भी है—

——Freedom's battle once begun,
Bequeath'd from bleeding sire to son,
Though baffled oft is ever won."

अर्थात् जब एक बार स्वाधीनता के लिए संग्राम छिड़ गया तो

रक्त पात होता ही रहेगा। सम्भव है कि यह युद्ध कई पीढ़ियों तक चलता रहे, पर अन्त मे विजय की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। यह बात हर प्रकार की स्वतन्त्रता के लिए है, चाहे वह सामाजिक स्वतन्त्रता हो या राजनीतिक अथवा धार्मिक। चाहे बन्धन इस लोक का हो चाहे परलोक का, दोनो प्रकार के बन्धनो से मुक्ति पाने की चेष्टा असफल होती होती किसी न किसी दिन तो अवश्य ही फलवती होगी। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ग्लैडस्टन आयर्लैंड को होमरूल दे देना चाहते थे। उन्होंने उसके लिए घोर प्रयत्न किया, पर उन्हे सफलता नही मिली। उनके प्रयत्न सदा ही व्यर्थ जाते रहे। परन्तु ईश्वर की कृपा से आज वही चेष्टा फलोन्मुखी हो रही है। महात्मा ईसा के जीवन का ही उदाहरण ले लीजिए। जो ईसाई-धर्म आज विश्वव्यापी हो रहा है, संसार के कोने-कोने मे छा रहा है, उस ईसाई-धर्म को ईसा के जीवन-काल मे कितनी सफलता मिली थी? इसी धर्म की शिक्षा देने के लिए ईसामसीह शूली पर चढ़ाये गये थे। पर आज वही धर्म किस प्रकार फल-फूल रहा है। इससे परिणाम यह निकला कि सिद्धि के लिए वे ही लोग उद्विग्न होते हैं जो लोग कार्य का सञ्चालन "धनं देहि, यशो देहि, द्विषो जहि" अर्थात् धन, यश, मर्यादा की वर्षा करो और शत्रुओ का नाश करो, इस अभिलाषा से भगवान के पास प्रार्थना ले कर उपस्थित होते हैं। पर जो मनुष्य इस प्रकार के सकाम भाव को त्याग करने मे सफल हो सके हैं, वे कहते है:—"यह संसार जिसका है, उसके विधान के अनुकूल जो कार्य समझ पड़े उसी को करते रहना हमारा धर्म है, फलाफल का विचार उसके हाथ मे है। इससे

हमें कोई प्रयोजन नहीं। यदि किसी जमींदार ने हमें अपने मुक़द्दमे का पैरोकार बना दिया है तो हम उस मुक़द्दमे की पैरवी करेंगे। हम सदा ही इस बात की चेष्टा करेंगे कि हमारी तरफ से किसी बात की त्रुटि न होवे। पर मुक़द्दमे की हार और जीत से हमसे क्या सम्बन्ध? और जहां वही न्यायकर्ता भी है, जिसका मुक़द्दमा है वहाँ तो कुछ कहना ही नही है। वह अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जो फैसला कर सकता है। चाहे डिग्री दे दे, चाहे हरा दे। हम तो केवल इतना ही चाहते है कि प्रभु आपकी इतनी कृपा हमारे ऊपर बनी रहे कि न तो किसी जगह पर हम से भूल हो और न आलस्य तथा प्रमाद के वशीभूत हो कर हम किसी काम को करने मे ढिलाई कर दे। यदि हमारी पूर्ण विवेचना के बाद भी हमारी बुद्धि भूल करती है तो उसके संशोधन करने का भार भी आपही के ऊपर है, क्योंकि आप अन्तर्दर्शी हो और सभी बातों को जानते हो। संसार के कल्याण का भार भी आपही के ऊपर है। कर्मफल मे भी आप ही का अधिकार है। हम तो केवल आप के चरणों के दास हैं। उन्ही चरण-कमलो का सहारा लेकर मनसा-वाचा और कर्म द्वारा संसार की मङ्गल-कामना से सदा कार्य करते रहेंगे। इसी मन्त्र पर अर्जुन को अधिष्ठाता करने की इच्छा से भगवान श्रीकृष्ण ने कहा था —

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

अर्थात् तुम्हे तो केवल कर्म करने का अधिकार है, उस कर्म का

फल क्या होगा, इसको जानने का तुम्हे कोई अधिकार नही है। फल-प्राप्ति की कामना से तुम्हे कोई काम नही करना चाहिए।

योगस्थ'कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिध्यसिध्यो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।

हे अर्जुन ! फलप्राप्ति की कामना को छोड कर कर्म करने की चेष्टा कर। वे ही सच्चे कर्मयोगी है जो सिद्धि और असिद्धि दोनो मे एक भाव रखते है।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशी निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः॥

अर्थात् सम्पूर्ण कर्मो को हम मे अर्पण करके अध्यात्मचेतसा अर्थात्हम हर तरह से अन्तर्यामी के अधीन हो कर काम कर रहे है, यह भाव हृदय मे धारण करके और उस कर्म से किसी प्रकार के लाभादि की आशा की सम्भाव.ा न रख के विकारहीन हो कर युद्ध करो।

यह बात केवल धम-युद्ध के लिए ही उचित नही है। संसार के सभी प्रकार के कर्मो के लिए इसी तरह की धारणा रख कर युद्ध करना होगा।

महाराज युधिष्ठिर मनसा-वाचा तथा कर्मणा इसी प्रकार के कर्मयोगी थे। उन्होंने द्रौपदी से कहा था:—

नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्री चराम्युत।
ददामि देयमित्येव यजेयष्टव्यमित्युत॥
अस्तुवात्र फलं मा वा कर्तव्यं पुरुषेण यत्।
गृहे वा वसता कृष्णे ! यथाशक्ति करोमि तत्॥

धर्मं चरापि सुश्रोणि ! न धर्मफलकारणात् ।
आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च ॥
धर्म एव मनः कृष्णे ! स्वभावाच्चैव मे धृतम् ।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ॥

अर्थात् हे राजपुत्रि ! मै तुमसे हृदय की बात कहता हूँ । जो कुछ मै करता हूँ उसके फलप्राप्ति की मैं कभी भी कामना नहीं करता । इतना जानता हूँ कि देना होता है इसलिए देता हूं , यज्ञ करना होता है इसलिए करता हूँ । हे कृष्णे (द्रौपदी) फलाफल का मै कभी भी विचार नहीं करता । किसी तरह की फल-प्राप्ति हो या न हो, पर मै सदा उन कार्यों के निष्पादन करने की चेष्टा करता हूँ कि जो किसी गृहस्थ को करने चाहिएं । वेद-विहित विधियो का अतिक्रम न हो, इस बात को सदा दृष्टि-पथ मे रख कर और साधु-महात्माओं के आचरण का सदा अनुकरण करते हुए मैं जो धर्माचरण करता हूँ, उसके लिए मै कभी भी किसी तरह के फल की आकांक्षा नहीं रखता । प्रकृति से ही मेरा मन, हे कृष्णे ! धर्म की ओर झुक गया है । जो लोग फल-प्राप्ति की कामना से धर्माचरण करते है, वे लोग धर्म को बाजारू सौदा समझ बैठे हैं और इसलिए धर्म के अनन्य पक्षपाती लोग उन्हे अतिशय निकृष्ट दर्जे का जीव समझते हैं । टेनिसन ने कहा भी है:—

'To live by law
Acting the law we live by without fear,
And because right is right to follow right
were wisdom in the score of consequence"

अर्थात् विधि-विधान तथा नियम के अनुसार रहना चाहिए, क्योंकि विधि-विधान तथा नियम के अनुसरण मे फिर किसी बात का भय नही रह जाता। और चूंकि न्याय-पथ सदा धर्म-पथ है इसलिए परिणाम का कभी ख्याल न कर न्याय का आचरण करना ही बुद्धिमानी है।

प्रकृत-मनीषी जो कुछ कहते है, किसी मे सिद्धि अथवा असिद्धि की चिन्ता नही रखते, उससे सर्वथा उदासीन हो कर काम करते है।

: १०

संसार क्रीड़ाक्षेत्र है

यहाँ तक हमने अनेक लक्षणों से कर्मयोगी की पहचान बतलाई है। जिस व्यक्ति मे ये सब उपरोक्त लक्षण वर्तमान हों, उसका काम नाटक के पात्र के अभिनय से भिन्न क्या हो सकता है। उसका कोई भी कार्य स्वार्थ से प्रेरित हो कर नही होता। नाटक के पात्र को ही ले लीजिए। जिस समय वह रंगमंच पर आता है, उस समय उसे न तो द्रव्य का लालच रहता है और न प्रशंसा का प्रलोभन। उसकी सारी चेष्टाएं केवल दर्शकों को संतुष्ट करने के लिए होती हैं। इस प्रकार नाटक के पात्र की लीला का तत्व समझ लेने पर कर्मयोगी के अभिनय-तत्व को समझने मे आसानी होगी। नाटक के पात्र की भाँति कर्मयोगीजन निःस्वार्थ भाव से विष्णु के प्रसन्नतार्थ तथा संसार के कल्याण की कामना से प्राणपण से इस संसार मे लीलाभिनय करते है।

ऋषिपुंगव महर्षि वशिष्ठ ने संसार मे विचरण करने के निमित्त जो उपदेश श्री रामचन्द्र जी को दिया था उसीके अनुसार कर्मयोगी भी इस संसार मे रह कर कर्म करता जाता है। मुनि जी ने कहा था :—

पूर्णां दृष्टिमवष्टभ्य ध्येयत्यागविलासिनीम्।
जीवन्मुक्ततया स्वस्थो लोके विहर राघव॥

अर्थात् देह आदि इन्द्रियाँ तथा अन्नपानादि हमारे प्राणस्वरूप हैं, पुत्र, मित्र, कलत्र तथा धनधान्यादि सब हमारे हैं, इस प्रकार के जो आकर्षण करने वाले भाव मनुष्य के हृदय मे वर्तमान है

उन्हे वासना कहते है। इन भावो के त्याग को "ध्येय वासना" का त्याग कहते है। हे रामचन्द्र जी! ध्येयवासना के त्याग से जिस असीम आनन्द की उपलब्धि हो सकती है, उसे ही दृष्टि-पथ पर रख कर जन्म तथा मरण की चिन्ता न कर संसारयात्रा करो।

अन्तः संत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासिनः ।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर राघव ॥

अर्थात् हे रामचन्द्र जी! हृदय के अन्तःस्थित सम्पूर्ण आशा, आसक्ति तथा वासना का त्याग कर के बाह्य जगत के सभी कार्यों को करते रहो।

अन्तर्नैराश्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः ।
बहिस्तप्तोऽन्तराशीतो लोके विहर राघव ॥

हे रामचन्द्र जी! भीतर तो निराशा के घोर अन्धकार को बसा कर, बाहरी जगत की आशा को प्रथम स्थान दे कर और उसी मे उत्फुल हो कर कार्य सम्पादन करते रहने से अन्तर्हृदय उद्वेगरहित रहता है और इसलिए शीतल रहता है और बाह्य उद्वेगसहित रहता है इसलिए तप्त रहता है। इसी प्रकार का कार्य करते रहो।

कृत्रिमोल्लासहर्षस्थ' कृत्रिमोद्वेगगर्हणः ।
कृत्रिमारम्भसंरम्भो लोके विहर राघव ॥

हे रामचन्द्र जी! कार्य के अनुसार किसी कार्य के संबन्ध मे बनावटी उल्लास और हर्ष दिखा कर और किसी कार्य के सम्बंध मे बनावटी उद्वेग तथा निन्दा का भाव दिखा कार्य सञ्चालन करो।

वहिः कृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः।
कर्ता वहिरकर्तान्तः लोके विहर राघव ॥

हे रामचन्द्र जी ! अन्तः हृदय मे किसी तरह के आवेग को स्थान न देकर और बाहरी बनावटी आवेग दिखा कर, अन्तः हृदय से उदासीन होकर, बाहर संचालक हो कर संसार का कार्य सम्पादन करो ।

सच्चा कर्मयोगी यद्यपि कार्यो का सम्पादन करता रहता है तथापि वह अपने को कर्ता नहीं समझता। इसलिए उसकी दृष्टि मे सारी वृत्तिसमान है। वह किसी को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखता। इसी प्रसंग को लेकर भगवान श्रीरामचन्द्र जी को महाराज वशिष्ठ ने उपदेश दिया है:—

आशापाशशतोन्मुक्तः समःसर्वासु वृत्तिषु ।
बहिः प्रकृतिकायस्थो लोके विहर राघव ॥

हे रामचन्द्र जी ! हजारो प्रकार की आशाओ के बन्धन को तोड़ कर और सभी अवस्थाओ मे एकसा रह कर बाहर अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करके संसार का संचालन करो ।

जो इस अभिनय के उपदेशक है, वही भगवान आनन्दकन्द इसके निरीक्षक हैं । इसका उद्देश्य या तो इसकी लीला की पुष्टि है अथवा संसार के कल्याण की कामना है अर्थात् सच्चिदानन्द प्रभु की प्रतिष्ठा। उसके लिए अभिनय करने वाले के हृदय मे आन्तरिकता की पराकाष्ठा रहनी चाहिए ।

इस प्रकार की आन्तरिकता होने पर अहङ्कारमय, वासनात्यागी, आकाश-शोभन, जीवन्मुक्त अभिनेता को कर्म-साधना के हेतु चिन्ता से विह्वल होने की आवश्यकता नही रहती । चिन्ता

केवल उन मनुष्यो को सताती है, जिनकी बुद्धि एक बार तो विकसित होती है और दूसरी बार कुण्ठित हो जाती है।

नास्तमेति न चोदेति,यश्चिदाकशवन्महान् ।
सर्वं सम्पश्यति स्वस्थ. स्वस्थो भू मतलं यथा ॥

अर्थात् जो आकाश की भाति महान् है उसका न तो उदय है और न कभी अस्त है, वह सदा प्रकाशमय है । इसप्रकार के सुस्थ अविकल व्यक्ति पृथ्वी की भाति सुस्थ रहते है।

युक्तायुक्तदशाग्रस्तनाशोपहतचेष्टितम् ।
जानाति लोकदृष्टान्तं वरकोटरबिल्ववत् ॥

अर्थात् जो मनुष्य सदा उचित और अनुचित की चिन्ता मे व्याकुल रहता है और जिसकी सारी चेष्टाएँ आशा से प्रेरित हैं, वह हथेली पर रखे बेल की भाति सब बातो को प्रत्यक्ष करता है । निदान इस प्रकार के व्यक्ति को किसी भी कार्य के सम्बन्ध मे देश, काल तथा परिपार्श्विक अवस्था की पर्यालोचना, सर्वतोभाव से परीक्षा, सुविचार, सुमन्त्रणा, साधना के उपाय को उद्भावना तथा यथा-नियम और पूर्णरूप से कार्य की सिद्धि प्राप्त करने मे किसी प्रकार का प्रयास नही करना होता ।

: ११ :

उपसंहार

कर्मयोगी का क्या लक्ष्य है, कर्मकेन्द्र कहा है, उसका लक्षण क्या है, कर्माभिनय किस तरह का होता है, इन बातो की आलोचना संक्षेप मे की गई है। पर इस तरह के आचरण करने वाले कर्मयोगी बिरले ही देखने मे आते है। अधिकांश जन-संख्या तो राजस या तामस कार्याचरण करने वालों की है। राजसी कर्म के लक्षण:—

यतुकामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥

जो कर्म फलप्राप्ति की कामना से अहङ्कार के साथ और बड़ी ही धूम-धाम से किया जाता है 'उसे राजस कर्म' कहते है ।

अथत् अहंकार जहा विद्यमान है,वहां स्वभाव मे सरलता नही आ सकती। जब स्वभाव मे सरलता नही है तो काम भी सहज नहीं होगा। अब हम को हरेक काम का हिसाब-किताब रखना पड़ता है, इससे बुद्धि मे व्यापारिकता आ जाती है । बनियापन आ जाने से सहज काम भी कठिन हो जाता है। उस समय दूसरो के रुपयो की तरफ तृष्णा बढ़ती है, अपने रुपये को जीभ से पकड़े रहने की इच्छा होती है, उसे त्यागते भय और दुःख प्रतीत होता है। जहां अहंकार है वहा दूसरों के सताने की अभिलाषा स्वभावतः उत्पन्न होती है। अहंकार-जनित दम्भ और आसक्ति की उत्पत्ति का यही कारण है ।

इस प्रसङ्ग मे श्रीमद्भगवद्गीता मे भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है–

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥

अर्थात् जो कर्म मे आसक्त है, कर्म-फल की कामना से ही कर्म करते हैं, दूसरे के धन के अपनाने को लोलुप हैं, लोभ इतना अधिक है कि एक पैसा भी जेब से निकालना कठिन है, दूसरो को सताने की सदा चेष्टा किया करते है, अन्तःकरण शुद्ध नही है, सिद्धि मे प्रसन्न और असिद्धि मे दुःखी हो जाते है, जो लोग इन उपरोक्त आचरणो से युक्त है उन्हे राजस-कर्ता कहा जाता है ।

राजस-कर्म और राजसी-कर्म करने वाले मनुष्य के लक्षण का संक्षेप मे दिग्दर्शन करा के अब भगवान श्रीकृष्ण तामस-कर्ता और तामस-कर्म के लक्षण का वर्णन करते हैं—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत् तत्तामसमुच्यते ॥

अर्थात् जो मनुष्य बिना इस बात को समझे ही काम करने लग जाता है कि इस काम का भविष्य मे क्या परिणाम होगा, इसमे कितनी शक्ति का नाश और अपव्यय होगा, आर्थिक क्षति कितनी भीषण होगी, इस कार्य से कितने लोगो को कष्ट होगा और अपनी शक्ति का कितना ह्रास होगा, उसी को तामस-कर्ता कहते है । और भी

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥

अर्थात् जो मनुष्य अनवहित, विवेकशून्य, उद्दण्ड, शठ, दूसरो की जीविकोपहरण मे दत्तचित्त रहता है, आलस्ययुक्त रहता है और काम करने मे बड़ी सुस्ती दिखाता है, वह तामस-कर्ता कहलाता है ।

राजस और तामस-कर्ता के जो लक्षण दिये गये हैं उनसे तुलना करने पर विदित होता है कि पश्चिमी अर्थात् युरोप देश के निवासीगण राजस-कर्ता हैं। क्योंकि जिस प्रकार उनके बल, पराक्रम, साहस और सम्पत्ति की वृद्धि हुई, उसी प्रकार उनके भीतर दम्भ और अहङ्कार का भाव भी बढ़ता गया है और वे लोग सदा राजसी-वृत्ति से उत्पन्न विषय-वासना के उपभोग मे लगे रहते हैं। जिस समय उनकी देह सदनुष्ठान करने मे प्रवृत रहती है उस समय बहुधा उसमे से राजसी-प्रवृत्ति की महक आती है। लोग लाखो रुपयों का दान इस अभिलाषा से प्रेरित होकर करते हैं कि राजा की दृष्टि मे उनका सम्मान हो, प्रजा के हृदय मे उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति बढ़े। इससे यह नही कहा जा सकता कि सात्विक-प्रवृत्ति का सर्वथा लोप हो गया है, पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि रजोगुण से उत्पन्न वृत्तियों की वृद्धि और उनका विकास सीमा से कही अधिक बढ़ गया है। कर्म-चक्र के सञ्चालन मे सात्विक-प्रवृत्ति जनित शान्ति तथा नीरवता का बहुत कुछ लोप हो गया है! यह अवस्था देख कर उनमे से कई एक विचारवान पुरुषो ने इस बात की अतिशय चेष्टा की कि इन लोगों मे सात्विक-प्रवृत्ति का पुनरागमन या पुनर्जन्म हो जाय। आज भी उसी तरह के अनेक महापुरुष इस बात की चेष्टा कर रहे है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि सात्विक-भाव धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। इससे अब भारतवर्ष, चीन तथा अन्य देशो के प्राचीन समय के महर्षिगणो की आध्यात्म-चिन्ताओ की प्रतिष्ठा आज पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ गई है। डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को 'नोबुल प्राइज' मिलने का यही साधन हुआ है।

तामसी प्रवृत्ति उन लोगो मे कही कम है। तामसी-प्रवृत्ति वाले मनुष्य के जो लक्षण है अर्थात् आलस्य, विषाद और दीर्घसूत्रता (काम करने मे ढिलाई) वह इनके बीच बहुत ही कम देखने मे आते है। इनमे राजसी-प्रवृत्ति का भाव ही अधिकांश दृष्टि-गोचर होता है। यह राजसी-प्रवृत्ति का ही प्रसाद है कि इन लोगो मे इस प्रकार का परस्पर संघर्ष उपस्थित हो रहा है। पर बीच-बीच मे सात्विक-प्रवृत्ति का भी कहीं-कही से सुमधुर राग नेतागण को अपनी ओर आकृष्ट करेगा और वे कर्मयोग के मार्ग मे आगे बढने मे समर्थ होगे। यदि उन लोगो की इस प्रकार उन्नति न होगी तो वे राजसी प्रवृति से तामसी प्रवृति के पद पर गिर जायँगे। कर्ता के लीला-चक्र पर चढने के बाद फिर कोई भी व्यक्ति एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकता। चाहे वह ऊपर की ओर बढ़े या नीचे की ओर गिरे, जो भीषण संग्राम, जो परस्पर स्वार्थ-संघर्ष इस समय चल रहा है, सम्भव है इसका अन्तिम परिणाम कल्याण-कर ही हो। सुदूर विचार करने पर जिस कल्याण की आशा की किरण दृष्टि-गोचर होती है उनके विषय मे तो लेशमात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिए, पर अधिक सुदूर पर दृष्टि रखने की आवश्यकता नही है। जो अवस्था चल रही हैं उसका पर्यवेक्षण करके तो यही कहना पड़ता है कि थोड़े ही दिनो मे ये लोग अपनी मूर्खता को समझ जायँगे और फिर चेष्टा करेंगे कि वे लोग यथासाध्य सात्विक प्रवृत्ति का अवलम्बन करे।

थोड़ा-सा अनुसन्धान करने पर विदित हो जाता है कि हम लोगो के बीच मे अनेकों तामसिक प्रवृत्ति के जीव हैं। तामसी-प्रवृत्ति के लोग न तो अपना कल्याण कर सकते हैं और

न दूसरों के कल्याण की कामना करते हैं। अपने लाभ के लिए जो काम होते हैं उनमें तो वे अनवहित, विवेकशून्य, आलसी, विवादी और दीर्घसूत्री होते हैं और दूसरों के लाभ के सम्बन्ध मे अनम्र (उद्दण्ड), शठ और दूसरों की जीविका को सदा अपहरण करने की चेष्टा मे तत्पर रहते हैं। यदि हमारे देश (भारतवर्ष) के भूतपूर्व राजा लोग इस तरह की तामसिक-वृति के वशीभूत न होगये होते तो यह देश इतना पतित न हो जाता और यदि हम लोगो मे यह भाव न रहता तो हम लोग इस तरह से पद-दलित न बने रहते। हम लोगों मे से अनेक ऐसे हैं जो न तो अपने मंगल और कल्याण को समझते है और न उसकी प्राप्ति की कामना करते हैं। पर ईर्ष्या और द्वेष के वश मे हो कर दूसरो को जोविका का अपहरण करने और उनको हर तरह से हानि पहुँचाने की चेष्टा करते है। क्या यह बात सत्य नही है? आज ग्रामो की क्या अवस्था है? प्रत्येक ग्राम के निवासी आज एक दूसरे के साथ परस्पर क्षति पहुँचाने की चेष्टा किया करते हैं। क्या यह बातें तामसिक प्रवृति की सूचक नही हैं? हम जो काम कर रहे है उसका फल शुभ होगा या अशुभ, इसका साधारण ज्ञान भी क्या हमे नहीं है? किसी को हानि पहुँचाने के निमित्त शक्ति, धन, अर्थ क्षय करके क्या अनेक जातियां अपने हाथो ही अपनी हानि नहीं कर रही है? जिन्हे हम अशिक्षित कहते है, उन लोगो की बाते तो दूर रहने दीजिये, जिन लोगो को हम पढ़े-लिखे सुशिक्षित कहते है, उनके वीच मे भी ऐसे वहुत उदाहरण देखे जाते हैं कि दूसरों को क्षति पहुँचाने के लिए वे सदा अपनी हानि करते हैं और करते आये हैं।

अनेक उदाहरण वर्तमान है जहां लोग अपनी ईर्ष्याजनित वृत्ति से प्रेरित होकर दूसरो को क्षति पहुँचाने के हेतु कठिन परिश्रम से कमाये अपने चिरसंचित द्रव्य को पानी की तरह बहा देते हैं और अन्त मे आप स्वयं इस अवस्था को पहुँच जाते है कि पेट भर अन्न मिलने का भी उन्हे ठिकाना नही रह जाता।* जिसने कुछ धन उपार्जित भी कर लिया है वह सारा का सारा अदालतो के लिए स्टाम्प, वकील साहब की फीस, अमलों को खुश करने के लिए पान-पत्ते, गवाहो की खुराकी, अर्दली, चपरासी, पेशकार हाकिम आदि को नजराना देने मे समाप्त कर देता है। इसी को तामस-प्रवृति से प्रेरित स्वार्थ-परता कहते है।

पर तामसिक प्रवृति की छाया विद्यमान रहते भी यहां के

---

*आज दिन देहातो की ठीक यही हालत है। किसानो की अवस्था तो किसी से छिपी नही है। यदि साल मे पूरे ३६० दिन उन्हे एक समय भी पेट भर भोजन मयस्सर हो जाय तो वह उनके लिए बड़े सौभाग्य की बात है। कमाई उनकी इतनी कठिन होती है कि स्मरण कर रोगटे खड़े हो जाते है। न तो ये किसान दिन को दिन समझते है न रात को रात। जेठ की कड़ी धूप इनके लिए जाड़े की सुख-कर रश्मि, जाड़ों की ठंडक गर्मी की शीतल वायु और बरसात का पानी शीतल स्नान है। इस तरह रात-दिन कठिन परिश्रम से कमाई सम्पति को वे लोग बिना किसी सोच-विचार और चिन्ता के जरा-जरा सी बात मे लड़-भिड कर थानेदारो, इन्स्पेक्टरो और वकील-मुख्तारो के हवाले करते हैं।

— अनुवादक

अधिकारीगण सात्विकता को सर्वथा भूल नहीं जाते। ऋषि-मुनि तथा भक्तगणों ने इस देश के जलवायु मे सात्विकता के भाव को इतनी दृढ़ता के साथ भर दिया है कि आज भी कोई साधारण किसान यदि तीर्थाटन करके आता है और यदि उससे कोई पूछता है कि तीर्थयात्रा की कुछ बाते बतलाओ तो वह उसके लिए तैयार नही होता। पर धीरे-धीरे उसके हृदय में इस बात का अभिमान उठने लगता है कि हमने अमुक-अमुक तीर्थस्थानों की यात्रा की है। यदि किसी से पूछिये कि क्या ये पुत्र, कन्या आपके ही हैं; तो वह बड़ी ही सरलता से उत्तर देता है "सब ईश्वर के जीव है, मेरा क्या है? भगवान् की आज्ञा का पालन करके हम भी इनकी देख-भाल कर रहे है।" कितने ही ऐसे लोग हैं जो अपनी ख्याति से बड़े ही डरते हैं। लाखों रुपया गुप्त रूप से दान कर देते है पर यदि किसी पत्र या अन्य स्थान मे उनके नाम प्रकाशित कर दिये जायँ तो वे दुखी हो उठते हैं। वे चुपचाप अज्ञातवास मे रह कर अपना काम करते रहना चाहते है। ऋषिगणों के चरणों की धूल से पवित्र की हुई इस भूमि पर आज भी सात्विक भाव सर्वथा लुप्त नहीं हो गया है। इसीलिए भगवान् ने अपनी असीम प्रेरणा से आज भी सात्विक भाव को छिपा कर किसी-न-किसी कोने मे रख छोड़ा है; यद्यपि उसका प्रकाश थोड़ा ही देखने मे आता है। राजसी-वृत्ति भी हम लोगो मे कम ही देखने मे आती है। इस समय तो हृदय यही कह रहा है कि शीघ्र ही हम लोगो मे से तामसी-वृत्ति निकलेगी और राजसी-वृत्ति का उदय होगा। असावधानी, उदासीनता, मोह, जड़ता, धीरे-धीरे दूर हो रहे है। चारो ओर से "उठो", "जागो" का तुमुल-रव सुनाई दे रहा है। भिन्न-भिन्न प्रदेश, भिन्न-भिन्न लोग, भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के लोक

ओज एक दूसरे की सहायता करने को उठ रहे है ।

इस समय देश मे एक तरह की विभिन्न जागृति हो उठी हैं। भगवान् ने हमारी सहायता के लिए हाथ फैला दिया है। उसने देख लिया है कि हम अवनति और दुर्दशा की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँच गये है और इसीलिए उसका सिहासन डगमगा गया है। जिनमे सुनने की शक्ति है वे एकान्त मे कहीं से अनवरत धारा मे बहती हुई "अब मत डरो, डर का कारण गया" की अनन्त ध्वनि सुन रहे है । जिनमे देखने की शक्ति है उन्होने उषा की प्रकाशमय किरणो को देख लिया है। जिस अलौकिक ज्योति का प्रकाश इस पुण्य-भूमि पर होने वाला है उसके आगमन को सूचित करने के लिए तथा हमे आशान्वित करने के लिए ये अग्रदूत बन कर उपस्थित हो रहे हैं। इन कल्पनाओ को अच्छी तरह से हृदयङ्गम कर के वृद्ध-जनो के हृदय मे भी एक बार स्फूर्ति उत्पन्न होती जा रही है, हृदय प्रफुल्ल हो रहा है, प्रत्येक नस मे रक्त की धारा और भी तेज हो कर बहने लगती है। पर, साथ-ही-साथ हृदय भयभीत होकर कम्पित भी हो उठता है कि कहीं रजोगुण का प्रभाव इतना प्रबल न हो जाय कि इस देश की विशेषताओं का वह नाश कर दे। इसीलिए भगवान् के श्रीचरणो मे मस्तक नवा कर प्रार्थना करते है कि हे महाप्रभु ! इस देश मे बसने वाली किसी भी प्रजा की बुद्धि मे हिंसा और द्वेष की वृत्ति न आने दे जिससे अन्तःकरण तो शून्य का शून्य रह जाय और बाह्य उन्नति के मोह मे हम फँसे रहे। भगवन ! ऐसी प्रेरणा करो जिससे हम लोग ऋषि-मुनियो की निर्दिष्ट सात्विक प्रवृत्ति को अपने लक्ष्य मे रख कर शुभेच्छा की प्रेरणा

ही कराना होगा, क्योंकि वे अभी कर्म तो करना ही नहीं चाहते। यह ठीक है कि उन्हें योरोप के कर्मरत कार्लाइल और कार्लमार्क्स दिखाई देते हैं और हमारे कर्मयोगी कृष्ण नहीं दिखाई देते, इसलिए उन्हें योरोप की घोर कर्मण्यता प्रिय लगती है। पर उन्हें यह तो देखना चाहिए कि जड़ भारतवासियों का उद्धार प्रारम्भ ही कैसे हो सकता है। बिना कर्मयोग के इन अनिच्छुकों से कर्म कैसे कराया जाय। इसलिए हर हालत में भारतवासियों का उद्धार कर्मयोग के बिना नहीं हो सकता। जब तक कि उन्हें यह न सिखाया जाय कि 'तुम्हारी इच्छा है या नहीं यह मत देखो, केवल कर्त्तव्य है इसीलिए कर्म करो,' तब तक वे कोई भी कर्म नही प्रारम्भ कर सकते। परन्तु यदि इसके बाद भी हम भारत-वासी निष्काम कर्म कर सकें तब तो बहुत अच्छा है, हमारा कल्याण ही कल्याण है। यही एक-मात्र कर्म का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

× × ×

इसलिए जब भी भारत के पुनरुद्धार के लिए चिन्ता होती है, तब यह कर्मयोग ही एकमात्र उपाय सामने दिखाई देता है। पर साथ ही प्रश्न उठते हैं कि हम से इस कर्मयोग को करवावे कौन ? वंशी को बजावे कौन ? वे कृष्ण कब जन्मेंगे जो कि कर्म-योग की इस वंशी में फूँक लगाकर, इसकी तान पर नाच करने वाले सैकड़ों अन्य कर्मयोगियों को भी कर्मक्षेत्र में खड़ा कर देंगे ? ऐसे प्रश्न शायद सैकड़ों हृदयों से उठकर इस भारतीय आकाश में लुप्त हो जाते हैं, मानो उत्तर लाने के लिए आनेवाले कृष्ण को ढूँढने चले जाते हैं।

वास्तव में यह बंसी बजानेवाले का प्रश्न ही मुख्य है। इस बंसी को तो जो कोई भी गीता पढ़ने का यत्न करे देख सकता है। मै समझता हूँ मैंने ही यह वंशी पाठकों को बता दी है और यह इतनी सादी सी वस्तु है कि मैंने इसकी रचना भी पाठकों को समझा दी है। पर क्या बंसी इतने ही से समझ में आ सकती है? यह तो तब समझ में आवेगी जब कि कोई इसे भारतवर्ष में बजाकर दिखला दे। बस इसे बजा सकनेवाले बिरले आदमी का नाम ही कृष्ण है, जो उपर्युक्त प्रश्नो का उत्तर है। वह चाहे किसी नाम से प्रकट हो, पर जो भारतवासियों से कर्मयोग करवा दे, वही हमारा आनेवाला कृष्ण है। कृष्ण का अर्थ है अपने कर्मयोग से सैकड़ों कर्मयोगियों को बना सकनेवाला महाकर्मयोगी। इसी की कर्मयोग की बंसी हमे बचा सकती है।

× × ×

पर शायद हमने यह समझा नहीं है कि इस कर्मयोग के बिना हमारा किसी तरह भी उद्धार नहीं हो सकता। जरा अलंकार को छोड़कर भी यह मूल की बात हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। हमारी हालत क्या है? हम दरिद्रता में इतने फँसे हुए हैं और हम इतने निर्बल हो गये हैं कि रुपयों का और आराम का जरा सा भी प्रलोभन हमारे लिए बहुत अधिक पर्याप्त है। और ये प्रलोभन हमारे विदेशी शासक सदा हमारे सन्मुख प्रस्तुत रखते हैं, जिसका फल यह होता है कि इनके सामने उद्धार के सब उपाय निष्फल रहते हैं, क्योंकि इन उद्धार के उपायों में तो कोई प्रलोभन नहीं, बल्कि कुछ न कुछ आराम या पैसे का त्याग ही करना आवश्यक होता है। अतः

प्रलोभन की जीत होती है और हम इस दलदल में और फँस जाते हैं, इस तरह कोई भी कार्य्यक्रम सफल नहीं होता। सफलता का तो एकमात्र उपाय यही है कि किसी तरह अपने वैयक्तिक हानि-लाभ को बिलकुल बिना देखे देश के लिए कर्त्तव्य कर्म करते जाँय। यही है कर्मयोग। चर्खे के कार्य क्रम में हमें कोई प्राण देने को नही कहा गया है। खद्दर पहिनना और चर्खा चलाना, क्या इससे भी आसान कोई कार्यक्रम स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए बताया जा सकता है। पर हम इतना थोड़ा सा भी त्याग नहीं कर सके, इससे स्पष्ट है कि हम कितने फँसे हुए है। क्या स्वाधीनता के लिए इससे भी कम त्याग के उपाय को आप आशा करेंगे? इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि कोई भी कार्यक्रम हो, बिना कर्मयोग के हम उसे इस हालत में कभी नहीं चला सकते। किसी तरह हमें केवल कर्त्तव्य समझ कर (और सब बातों से आँख मीच कर) कर्म करना होगा, तभी हम इस दलदल से निकल सकते हैं, नहीं तो इसमें और फँस-कर संसार से अपना नाम ही मिटा देना होगा। जरा अपनी इस हालत को अच्छी तरह अनुभव कीजिए तब आपके मुख से यही निकल पड़ेगा 'कर्मयोग' 'कर्मयोग'। हम स्वयं कर्म-योग नही कर सकते। कोई कृष्ण आकर हमसे निष्काम कर्म करवावे, हमसे कामनायें छुड़वावे और शुद्ध कर्म करवावे, तभी केवल तभी--हम बच सकते हैं। नहीं तो हम दिनोंदिन नीचे ही जा रहे हैं जहाँ से कि निकलना दिनोंदिन असम्भव होता जाता है।

× × ×

तो क्या हमारी यह चरम पतन की अवस्था, हमारे ये गुलामी के क्लेश, हममें यह अधर्म का अभ्युत्थान तथा उससे होनेवाले ये घोर दुःख अब भी हमारे लिए कृष्ण का जन्म न करा सकेंगे ? भारत माता की यह वेदना प्रसववेदना ही क्यों न साबित हो ? नही, अब अवश्य कृष्ण प्रकट होंगे ! केवल हमे उनके स्वागत के लिए तैयार हो जाना चाहिए। भारतवासियो ! अपने इन कष्टों की अग्नि मे तप कर अब जल्दी अपने को जितना हो सके कर्मयोगी बना लो। यही उनके स्वागत की तैयारी है। और तप (द्वंद्वों का सहन, इनमे सम रहना) यही कर्मयोगी बनने का साधन है। जब इस देश में तपस्वी कर्मयोगियों की संख्या पर्याप्त हो जायगी, तभी उनके बीच में महाकर्मयोगी कृष्ण भी प्रकट हो जायँगे। सावधान रहना, यह विषम अवसर है। यदि हमने तैयारी न की तो सम्भव हो सकता है, कि यह वेदना प्रसववेदना की जगह माता की मृत्यु-वेदना हो जाय। इसलिए अपने को कर्मयोगी बनाने मे (तपस्या में) कोई यत्न न उठा रखोगे तो जरूर कल्याण होगा।

× × ×

कई बार मन में आता है कि वर्त्तमान 'मोहनदास कर्मचन्द' ही वे हमारे अभिलषित कृष्ण क्यों न निकलें। यह तो भविष्य बतलायेगा, कि इस जमाने मे उद्धार के लिए उत्पन्न हुए कृष्ण कौन थे, पर यदि गाँधी भी हमारा उद्धार करने में असमर्थ रहें, तब या तो हमारा उद्धार ही नही होना है या इनसे भी बड़े कर्मयोगी कोई पैदा होंगे। नहीं, उद्धारक कृष्ण तो प्रकट होवेंगे ही, केवल हमे पहिले इन कष्टों से अपने आपको

तपाकर तैयार रखना चाहिए। ऐसा तपाना चाहिए कि बहुत से छोटे कर्मयोगी बन जायँ, कुछ मध्यम दर्जे के कर्मयोगी बन जायँ और थोड़े से पूरे कर्मयोगी बन जायँ। बस फिर मोहन प्रकट होंगे और सबको मोहित करनेवाली मोहन की मुरली भारत में फिर गूँजेगी और एक नृत्य शुरू होगा। जेल जाने से पहले महात्मा गाँधी ने एक पतंगनृत्य (Death Dance) का वर्णन किया था जो कि भारत में हो रहा है। इसी की प्रतिक्रिया में यह आनेवाले कृष्ण की मुरली की तान पर होनेवाला 'कर्मयोग महा-नृत्य' भारत में चलेगा। जब बंसी बजेगी तो उसकी मस्ती में आकर छोटे-छोटे लाखों कर्मयोगी खद्दर पहनने के कर्त्तव्य के लिए खद्दर का मोटापन, इसकी महँगी, इसका जल्दी मैला हो जाना, यह सब भूल जायँगे, चर्खा चलाने के लिए आराम की इच्छा और समयाभाव को भूल जायँगे, मस्ती में नाचनेवाले वकील अपनी वकालत की आमदनी को भूल जायँगे और मुक़द्मेबाज़ अपनी डिग्रियाँ कराने की चाह भूल जायँगे। बस केवल अपना कर्तव्य दीखेगा, शेष उन्हें कुछ भी न दीखेगा। यह नहीं, बल्कि बड़े-बड़े नचैय्ये न केवल जेलों के कष्टों में रस का आस्वादन करेंगे, अपितु हँसते-हँसते फाँसी भी चढ़ेंगे और गोलियों के आगे छाती खोलकर खड़े होंगे। आहा! यह मोहन की मुरली पर चलनेवाला क्या ही अलौकिक देवों का महानृत्य होगा। उस दिन भारत के जन्म जन्मान्तरों के पाप क्षण भर में धुल जायँगे।

एक ऐसा छोटा सा नृत्य गाँधी ने भी गत वर्षों में करवाया था, जिसमें कि त्यागशूरों ने लाखों की आमदनियाँ भुला दी थीं

और वीरों ने जेल भर दिये थे। पर ईश्वर करे कि अब की वार का महानृत्य एक पूर्ण नृत्य हो। 'बंसीवाले कृष्ण की बंसी ऐसी बजे कि सारा भारत हिल जाय और उसकी पराधीनता की सब बेड़ियाँ कटकट कर गिर जायँ।

हे कृष्ण के प्यारो! तैयार हो जाओ।

: २१ :

कुलियों की माता

क्या तुम जानते हो कि जिस तरह अंग्रेज़ लोग 'दुकानदारों की क़ौम' (Nation of Shopkeepers) कहलाते हैं और जिस तरह जर्मन लोग 'सिपाहियों की क़ौम' (Nation of Soldiers) कहलाने लगे थे, वैसे हम भारतवासी क्या कहाते हैं? हमारा नाम है 'कुलियों की कौम' (Nation of Coolies) हम पैंतीस करोड़ बोझा उठानेवाले कुली हैं। हमने ३५००००००० होकर क्या किया? क्या हम इतनी बड़ी संख्या में भार ढोने के लिए ही पैदा हुए हैं? ओह! कुलियों की माता, कुलियों की दुखिया दीन माता, जो कि पैंतीस करोड़ बालक रखती हुई भी उनके साथ दिनरात 'भार ही वहन करती' है। अच्छा होता कि हम संख्या में इससे आधे, चौथाई बल्कि दसवाँ हिस्सा होते—पैंतीस करोड़ की जगह केवल तीन करोड़ ही होते—किन्तु कुली न होते, मनुष्य होते; माँ के (पौरुषयुक्त) पुरुष संतान होते, वीर पुत्र होते। तब हमारी माता हमारे भरोसे रात भर निश्चित हो सो तो सकती। सच है:—

सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी।
एकेनैव सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भया ॥

× × ×

वास्तव में हमने अपनी माता को 'सिंही' के स्थान पर 'गर्दभी' ही साबित किया है। सचमुच संख्या-वृद्धि वृथा है। जहाँ 'गुण' (quality) होता है वहाँ 'संख्या' (quantity) की आवश्यकता नहीं होती। शेर का बच्चा एक ही पर्याप्त है। भारत माता के इतने पुत्रों की जगह तिलक, गाँधी जैसे थोडे से ही 'वीर' पुत्र रहते तो उसके सब दुःख मिट जाते। इसलिए आओ अब अपना सब ध्यान, सब सामर्थ्य, सब वीर्य 'संख्या' बढ़ाने के स्थान पर 'गुण' बढ़ाने में ही खर्च करे। ठीक कहा जाता है 'गुलामों की संख्या मत बढ़ाओ' स्वामी रामतीर्थ ने तो अपने प्रसिद्ध 'ब्रह्मचर्य' व्याख्यान में कहा था कि 'क्या भारतवर्ष को कालकोठरी ही बनाकर छोड़ोगे'। स्वामी सत्यदेव ने 'राष्ट्रीय संध्या' में एक प्रार्थना यह भी लिखी थी 'मैं देश के लिए ब्रह्मचारी रहूँगा'। यह प्रार्थना प्रति दिन करो और ब्रह्मचर्य द्वारा माता के 'शेर' बालक बनो।

× × ×

हम 'भार वाही' कुली क्यों हो गये हैं ? क्योंकि हम अपना बोझ अपने आप नहीं उठा सकते। जो मनुष्य अपना बोझ अपने आप (स्वेच्छा से) उठाता है, वह तो 'स्वाधीन पुरुष' है। जो दूसरों का भी बोझ अपने आप स्वेच्छा से उठाता है वह 'परोपकारी' है, किन्तु जो दूसरों का बोझ दूसरों की इच्छा से उठाता है वह 'कुली' है। और मनुष्य दूसरों की

इच्छा के अधीन तब होता है, जब कि उससे इच्छा को स्वाधीन रखने की शक्ति नही रहती। इसलिए मै कहता हूँ कि हमारे कुली हो जाने का कारण यह है कि हसमे अपना बोझ अपने आप उठाने की शक्ति नही रही।

अपने राज्य का अपना बोझ हम स्वयं नहीं उठा सकते इसीलिए हम कुली बनकर नाना तरह से दूसरों का बोझ उठा रहे हैं। हम पैंतीस करोड़ कुली बनकर मैनचेस्टर की मिलों का बोझ उठा रहे हैं। (यदि हम 'कुली लोग' आज विदेशी वस्त्र पहिनने से हड़ताल कर दे तो कल ही इन मिलों में ताले पड़ जायँ)। ब्रिटिश हित के लिए हिन्दुस्तान मे रखी हुई बड़ी फोज के महाव्यय का भारी बोझ कर दे देकर हम ही ग़रीब भारतवासी 'कुली' उठा रहे हैं। एवं और नाना प्रकार के कर देते हुए, सरकारी नौकरियाँ करते हुए तथा अन्य सैकड़ों तरह से सहयोग करते हुए—'विदेशी नौकरशाही' के इस सब बड़े भारी बोझ को उठाने की कुलीगिरी हम भारतवासी समूहरूप से कर रहे हैं और अपना कुली जीवन बिता रहे है।

ऐ मेरे कुली भाइयो! मै रोकर कहता हूँ कि अब यह कुलीगिरी बस करो। यह अच्छा नहीं। पराई इच्छा से दूसरों का बोझ उठाना छोड़, अपना बोझ स्वय उठानेवाले बन जाओ और किसी तरह अपनी माता को 'कुलियों की माता' की जगह वही 'वीरों की माता' बना लो।

सबसे पहले अपने खद्दर का थोड़ा सा, किन्तु खुरदरा, भार अपने कन्धों पर स्वेच्छा से उठाकर मैनचेस्टर की मलमल का मुलायम बोझ अपने शरीर पर ढोने की कुलीगिरी तुरंत त्याग

दो (कुलीगिरी की इस दासता से मिलने वाले दो पैसे भी इसी के साथ जाने दो)। अपना यह एक बोझ स्वयं उठाकर देखो। यदि इसे उठा लोगे तो थोड़े दिनों में ही देखोगे कि अपने राज्य का बड़ा भारी बोझ भी स्वयं उठाने की शक्ति तुममें है और तब तुम सब कष्ट सहन करना स्वीकृत कर लोगे, पर दूसरों के दासतापूर्वक दिये इस नौकरशाही के बोझ को आगे घड़ी भर भी उठाने की कुलीगिरी न कर सकोगे।

× × ×

आओ, हम फिर 'कुलियों' की जगह सचमुच 'वीर' बन जायँ। अपना बोझ स्वयं उठा ले। इसमें क्या है ?

गुरु गोविन्दसिंह ने कहा था 'चिड़ियों को मैं बाज़ बनाऊँ'। और उन्होंने 'चिड़ियों' से 'बाज़' बना दिये थे। हम वे ही भारतवासी आज भी फिर चिड़ियों से बाज़ बन सकते हैं, गर्दभों से सिंह बन सकते हैं, कुलियों से वीर बन सकते हैं, गुलामों से राजपुत्र बन सकते हैं और हमारी माता 'कुलियों की माता' की जगह 'वीर माता' बन सकती है, 'चेरी' की जगह रानी बन सकती है।

और बनना क्या है ? यह राम और कृष्ण की माता, ऋषियों-मुनियों की माता, भीष्म और अर्जुन की माता, सीता और सावित्री की माता, अभी गुज़रे प्रताप और शिवा की माता क्या यह कभी 'कुलियों की माता' कहाने के योग्य है ? केवल 'स्मृति' होने की देर है। जब दासी रानी हो सकती है, तो रानी

को ही फिर रानी बनाने में क्या घबराहट है, क्या मुश्किल है ? क्या विलंब है ?

× × ×

हे भारतवासी ! ज़रा देख, हम कुली बने हुए कुपुत्र ने अपनी माता को बँधवा रक्खा है और अपनी कुलीगिरी की कमाई मे मस्त हैं। यदि तेरा ध्यान इस तरफ नहीं जाता तो तेरा पूजा पाठ किस काम का ? माता के इस मोक्ष के लिए तू प्रतिदिन कितना यत्न करता है ? अपने चौबीस घंटों में से कितना समय माता की पूजा, माता की सेवा में खर्च करता है ? क्या तू समझता है कि माता को (और फिर इस हालत में !) भुलाकर—विमुख रहकर—तू ईश्वर को प्राप्त हो जायगा ? अरे भाई ! झूठे धर्म के आडम्बर और पाखण्ड को दूर हटाकर भय और पक्षपात के गाढ़ मलों से हृदय को शुद्ध करके, पवित्र अन्त.करण से देख कि अपनी माता की सेवा करना ही बच्चों का सबसे पहला धर्म है। यही ईश्वर प्राप्ति का मार्ग है, यही जगन्माता की सेवा का सच्चा साधन है।

इति जगन्मात्रर्पणमस्तु।